...री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला १५

॥ श्रीः ॥

...मत्सनत्सुजातीयम्

श्रीमच्छङ्करभगवत्पादविरचितभाष्यसहितम्

तथा

नीलकण्ठीव्याख्यया संवलितम्

वझे इत्युपनामकेन भाऊशास्त्रिणा संशोधितम्

'प्रज्ञा' हिन्दीव्याख्योपेतम्

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० बा० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

॥ श्रीः ॥

काशी संस्कृत ग्रन्थमाला

१३

॥ श्रीः ॥

श्रीमत्सनत्सुजातीयम्

श्रीमच्छंकरभगवत्पादविरचितभाष्यसहितम्

तथा

नीलकण्ठीव्याख्यया संवलितम्

वझे इत्युपनामकेन भाऊशास्त्रिणा संशोधितम्

'प्रज्ञा' हिन्दीव्याख्योपेतम्

हिन्दीव्याख्याकारः

कन्हैयालाल जोशी

सम्पादक एवं भूमिकालेखकः

कपिलदेव गिरि, साहित्याचार्य, एम० ए०

प्राच्यविद्या धर्मविज्ञान संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी-५

चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक

पो० आ० चौखम्भा, पो० बा० नं० १३९

जड़ाव भवन, के. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)

प्रकाशक : चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी
मुद्रक : विद्याविलास प्रेस, वाराणसी
संस्करण : द्वितीय, वि० संवत् २०३६
मूल्य : रु० १२-००

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
पोस्ट बाक्स नं० ८४
चौक, (चित्रा सिनेमा के सामने)
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
फोन : ६५४४४

THE
KASHI SANSKRIT SERIES
13
*****

SANATSUJĀTĪYAM

WITH BHĀṢYA OF
ŚRĪ MADSHANKERA BHAGAVATPĀD
AND
a commentary by Nīlakaṇṭha

EDITED BY
Pt. BHAU SHASTRI VAJHE

With
Prajñā Hindi Commentary by
KANHAIYA LAL JOSHI

Edited with Introduction By
KAPIL DEO GIRI, Sāhityāchārya, M. A.
Faculty of Oriental Learning & Theology
Banaras Hindu University
Varanasi-5

CHAUKHAMBHA SANSKRIT SANSTHAN
Publisher and Distributor of Oriental Cultural Literature
P. O. Chaukhambha, P. Box No. 139
Jadau Bhawan, K. 37/116, Gopal Mandir Lane
VARANASI (INDIA)
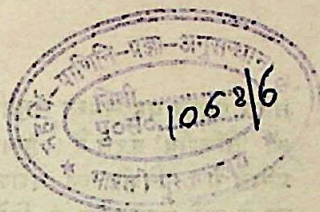
भूमिका

महाभारत महर्षि व्यास की प्रतिभा की उपज है। भरतवंशी राजाओं की अमर कथा है। इसलिये इसको 'महाभारत' कहते हैं—'भरतानां महज्जन्म महाभारतमुच्यते'—(म. अ. ६२।३९)। यह न केवल कौरव-पाण्डवों की लड़ाई का इतिहास है अपितु अनेक उपाख्यानों से विभूषित भारत की अन्तरात्मा का, धार्मिक नैतिक आदर्श का एवं सांस्कृतिक जीवन पद्धति का सुरम्य महाकाव्य है। यह श्रुतियों का समूह है। सम्पूर्ण काव्य एक विशाल राष्ट्रीय देवमंदिर की तरह रचित है। यहाँ यथार्थ के सुर को आदर्श के स्वर के साथ उत्तरोत्तर ऊँचा उठाया गया है। कहानी की धारा में अजीब आकर्षण है जो अन्त तक बड़ी संजीदगी से निभाया गया है। असत्य के ऊपर सत्य की ज्योति जलाई गई है, एकता का स्वर बुलंद हुआ है, बड़ी बारीकी के साथ यह मानव जीवन की परिभाषा में प्रस्तुत है। यह ग्रन्थ हिमालय पर्वत सा विशाल है तथा सागर जैसा अनेक अनमोल रत्नों से संयुक्त है। इस संसार में धर्म, अर्थ, काम तथा मोक्ष पुरुषार्थों के सम्बन्ध में जो ज्ञान उपलब्ध है; वह इस ग्रन्थ में समाविष्ट है। इसी कारण यह कहना ठीक होगा कि—जो कुछ भी ज्ञान धन संसार में है, वह यहाँ है, किन्तु जो ग्रन्थ में नहीं है वह संसार में अन्यत्र प्राप्त होना असम्भव है :—

धर्मे चार्थे च कामे च मोक्षे च भरतर्षभ।
यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् क्वचित्॥
(म. आ. ६२।५३)

इस प्रकार यहाँ चिन्मय भारत और मृण्मय भारत का दर्शन होता है। चिन्मय से आन्तरिक सत्य ज्ञान रूप तथा मृण्मय से बाह्य असत्य भौतिक वैभव रूप ग्रहण करना चाहिए।

प्रस्तुत 'सनत्सुजातीयदर्शन' इसी महाभारत (उद्योगपर्व) से उद्धृत एक सुन्दर मर्मस्पर्शी उपाख्यान है। इसमें मुख्यरूप से वैशंपायन, धृतराष्ट्र और सनत्सुजात जैसे उत्कृष्ट पात्र आये हैं। पूरा आख्यान चार अध्यायों में बँटा हुआ है। अतः इन्हीं पात्रों का गुणानुवाद संक्षेप में करते हुए 'सनत्सुजातीय दर्शन' के विषय-वस्तु पर भी संक्षेपतः प्रकाश डाला जायेगा। इस ग्रन्थ के आरंभ में एक ही बार वैशंपायन के नाम का उल्लेख है इसलिए पहिले वैशम्पायन का परिचय दे रहे हैं।

वैशम्पायन—महर्षि व्यास के चार वेद प्रवर्तक शिष्यों में से एक ये भी हैं तथा कृष्णयजुर्वेदीय, तैत्तिरीय संहिता के आद्य जनक भी। कहा जाता है कि एक बार इन्होंने अपने शिष्य याज्ञवल्क्य से कहा कि मुझ से पढ़ा हुआ समस्त यजुर्वेद उगल दो। तदनुसार उगल देने पर वैशम्पायन के अन्य शिष्यों ने

तीतर बनकर वह समस्त यजुर्वेद निगल लिया। इसीलिए यजुर्वेद की उस ... को 'तैत्तिरीय' कहते हैं। पुराणों के पाठ करने में वैशम्पायन अत्यन्त दक्ष एवं प्रसिद्ध थे। 'विशंप' का वंशज होने से वैशम्पायन नाम पड़ा है। एक वैदिक गुरु के नाते वैशम्पायन का निर्देश पाणिनि की 'अष्टाध्यायी' में प्राप्त है (पा. सू. ४।३।१०४)। पतञ्जलि के व्याकरण महाभाष्य में इन्हें कठ एवं कलापिन् नामक आचार्यों का गुरु कहा गया है। महाभारत से पता चलता है कि व्यास ने स्वरचित महाभारत के आद्यरूप 'जय' नामक ग्रन्थ को सबसे पहिले वैशम्पायन को सुनाया था। वैशम्पायन विरचित 'भारत' ग्रन्थ में आस्तिक पर्व महत्त्वपूर्ण माना जाता है। वैशम्पायन के निम्नोक्त ग्रन्थ प्राप्त होते हैं—

१. वैशम्पायन-संहिता, २. वैशम्पायन-नीति-संग्रह, ३. वैशम्पायन-स्मृति, ४. वैशम्पायन-नीतिप्रवेशिका।

ये जनमेजय के राजपुरोहित थे। महाभारत के आख्यानों से पता चलता है कि जनमेजय के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर वैशम्पायन ने 'भारत' ग्रन्थ का कथन किया। इसीलिए वैशम्पायन ने (जनमेजय को आगे की कथा सुनाते हुए) कहा—'ततो राजा धृतराष्ट्रो—' (दे. सनत्सुजातीय में श्लोक १)।

धृतराष्ट्र—ये विचित्र वीर्य के ज्येष्ठ पुत्र थे। व्यास के नियोग से पैदा हुए थे और जन्मान्ध थे। परन्तु ज्येष्ठ होने के नाते राज्य के अधिकारी हुए। धृतराष्ट्र के अंधे होने के नाते पाण्डु को राजगद्दी दी गई थी। जब पाण्डु वन को चले गए तो ये पुनः राज्य के उत्तराधिकारी बन बैठे। दुर्योधन, दुःशासन आदि सौ पुत्रों के पिता थे और महाभारत की अमरव्यक्ति रेखाओं में एक। इन्हें अशांत, शंकाकुल एवं द्विधा स्वभाव का अंध एवं अपंग पुरुष मानकर महर्षि व्यास ने अपने 'महाभारत' में धृतराष्ट्र का चरित्र-चित्रण किया है। फलतः अंध व्यक्तियों में अत्यन्त ही दिखने वाली लाचारी, परावलम्बित्व एवं पर प्रत्ययनेय बुद्धि के साथ, संशयाकुल स्वभाव तथा मिथ्यापन इन सारे स्वभाव गुणों से धृतराष्ट्र का व्यक्तित्व ओतप्रोत था।

सनत्सुजातीय का उद्देश्य—यह 'सनत्सुजातीय' नामक ग्रन्थ ब्रह्मविद्या के उपदेशों का संग्रह है। धृतराष्ट्र ने विराट्पुरी में संजय को युधिष्ठिर के पास अपने संदेश के साथ भेजा था। वहाँ से वापस आकर संजय ने जो समाचार धृतराष्ट्र को सुनाया उससे वे मोहाभिभूत हो गए। अत्यधिक शोक के कारण मन उद्विग्न हो गया, नींद हराम हो गयी। ऐसी दशा में यह ग्रन्थ शोक-मोह से संभ्रमित धृतराष्ट्र को सुयोग्य मार्ग दिखलाता है, इसमें कोई संदेह नहीं है। इस उपदेश से धृतराष्ट्र अधिक संतुष्ट हुआ। किन्तु दुर्योधन के सम्बन्ध में अपनी असहायता प्रकट करते हुए उसने विदुर से कहा—'तुम्हारे द्वारा कथन की गई नीति मुझे योग्य प्रतीत होती है, फिर भी दुर्योधन के सामने इन सभी उच्चतत्त्वों को मैं भूल बैठता हूँ।'

तत्पश्चात् मन की शान्ति के लिए कुछ धर्मोपदेश प्रदान करने के लिए धृतराष्ट्र ने महात्मा विदुर से प्रार्थना की। इस पर विदुर ने कहा—'मैं शूद्र हूँ' इसी

कारण धर्मविषयक (या ब्रह्म विद्या का) उपदेश प्रदान करने के लिए अपात्र हूँ।' इसके बाद धृतराष्ट्र ने विदुर के कहे हुए वचनों को आदर देकर (विदुर के स्मरण मात्र से उपस्थित हुए) सनत्सुजात से परमतत्त्व विषयक उपदेश सुना। यही अध्यात्मविद्या विषयक उपदेश महाभारत उद्योग पर्व (३३.४१) में 'सनत्सु-जातदर्शन' के नाम से वर्णित है। यहाँ स्मरण रहे कि सनत्कुमार का नामान्तर सनत्सुजात है।

महात्मा सनत्सुजात—महात्मा सनत्सुजात ब्रह्मा के चार मानस पुत्रों में से एक हैं। इनका 'सनत्कुमार' नाम भी है। 'सनत्' शब्द का अर्थ है—सदा, नित्य, हमेशा। यानी जो सदा काल में कुमार रूप में रहता है वह सनत्कुमार हुआ। सनत्सुजात का अर्थ है—सदैव जिसका जन्म सुन्दर है वह सनत्सुजात है—सनत्=सर्वदैव, सुष्ठु, जन्म यस्य इति 'सनत्सुजातः'। इनका या इनसे सम्बन्धित जो तत्त्वज्ञान है वह 'सनत्सुजातीयम्' कहलाया। संस्कृत साहित्य के इतिहास में महाभारत कालीन सांख्याचार्यों की जो सूची दी गई है, उसमें नारद, कश्यप के साथ आचार्य सनत्कुमार का भी नाम है[१]।

छान्दोग्य उपनिषद् (७।१।२।४) की एक कथा में सनत्कुमार ऋषि के पास जाकर महर्षि नारद जी को ब्रह्मविद्या पढ़ने की इच्छा प्रकट करते हुए पाते हैं। जब ऋषि सनत्कुमार ने नारद से पूछा कि तुम अब तक कौन-कौन-सी विद्या पढ़ चुके हो, तब नारद ने अपनी पढ़ी हुई विद्याओं में ज्योतिष (नक्षत्रविद्या) तथा अंकगणित (राशि विद्या) का नाम बताया।[२]

आयुर्वेदाचार्यों की परंपरा में सनत्कुमार की गणना है और इन्हें आयुर्वेद का अद्वितीय विद्वान बताया गया है। आयुर्वेदविषयक इनका रचित 'सनत्कुमार-संहिता' ग्रन्थ भी उपलब्ध है। महाभारत, हरिवंश तथा वायुपुराण में सनत्कुमार को ब्रह्मा का मानस पुत्र बतलाया गया है।[३] हरिवंश की एक कथा में सनत्कुमार ने अपने बारे में इस प्रकार कहा है—"मैं जैसा पैदा हुआ हूँ, ठीक वैसा ही हूँ। तुम मुझे कुमार जानो। इसीलिए मेरा सनत् यानी सदा कुमार, इस प्रकार मेरा 'सनत्कुमार' यह नाम पड़ा है।[४] जैनाचार्य हेमचन्द्र के 'अभिधान-चिन्तामणि' में सनत्कुमार के पर्यायवाची नामों की सूची इस प्रकार दी गई है:—स्कंद, स्वामी, महासेन, सेनानी, षाण्मातुर, कार्तिकेय, कुमार, गुह तथा विशाख।[५] छान्दोग्य उपनिषद्, महाभारत शांतिपर्व तथा हरिवंशपुराण में उपर्युक्त उपनामों

---

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास–गैरोला–पृ० ४६३

२. वही, पृ० ६६७।

३. महाभारत–शांतिपर्व–३४९।७०, ७१, हरिवंश १, १७, १२; वायु-पुराण ११।१०६; उद्धृत वही पृ० ७१२ से।

४. हरिवंश–१।१७।१७; वही पृ० ७१३।

५. अभिधान-चिन्तामणि–२।१२२, १२२।

से इन्हें स्मरण किया गया है। सनत्कुमार बड़ी लंबी आयु लेकर इस भूतल पर अवतरित हुए थे। स्मरण रहे कि ब्रह्मा के मानसपुत्रों में नारद जी भी अन्यतम एवं अतिदीर्घजीवी व्यक्तित्व वाले हैं और सनत्कुमार से अध्यात्मज्ञान की शिक्षा ग्रहण किये थे। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रेष्ठ मानवों की जो कल्पना की गई है उसमें महात्मा सनत्सुजात (सनत्कुमार) पूरे उतरे हैं, ऋतंभरा प्रज्ञा के धनी हैं[1]। इस विशाल ब्रह्माण्ड में या चौरासी लाख योनि में यह मनुष्य महान है, जो मनन करने के लिए समर्थ है वही तो मनुष्य है (मननान्मनुष्यः)। इसलिए कि मानवता का उन्नायक तत्त्व पुरुषार्थ से पुरस्कृत है। इसी के शिव संकल्प के लिए नाना प्रकार के पदार्थों की सृष्टि इस भूतल पर उस विराट् पुरुष के द्वारा की गई है और समाज की व्यवस्था भी इसी मानुष की देखरेख के लिए की जाती है। आज के समाज शास्त्रियों का यह सिद्धान्त कि "मनुष्य ही इस विश्व का केन्द्र है" महर्षि व्यास के इस तपःपूत कथन के धरातल पर प्रतिष्ठित है :—

गुह्यं ब्रह्म तदिदं ब्रवीमि।
नहि मानुषात् श्रेष्ठतरं हि किञ्चित्॥

(महाभारत-शांति० १८०।१२)

महात्मा सनत्सुजात अपने ज्ञानामृत से एक नहीं, अनेक विक्षुब्ध मानव को जीवन दान देते हैं, हृदय में नया उमंग उछाह भरते हैं, जिन्दगी को जीने के लिए एक नया मंत्र देते हैं, ये बड़े ही दक्ष एवं उत्साही व्यक्ति हैं, विदुर जी के स्मरण मात्र से उपस्थित हो जाते हैं और गृह कलह से दुखी एवं शोक-मोह से ऊबे हुए धृतराष्ट्र को ब्रह्मविद्या (तत्त्व ज्ञान) का हृदयावर्जक उपदेश देकर संतुष्ट करते हैं। इनका यह अमृतोपदेश सदाकाल उपयोगी है अतः सार्थक है। मानव जीवन की सार्थकता एवं कृतकार्यता भयातुर जीव के माथे पर हाथ रखने में एवं उसे आगे बढ़ने के लिए हस्तसंचालन करने में ही तो है। हाथ पर हाथ रखकर बैठे रहना तो पशुता की निशानी है। इसमें मनुष्य जीवन की उपयोगिता कदापि नहीं है। महाभारत के शांति पर्व में ऐसे ही उत्साही कर्मठ हाथ के लिए महर्षि व्यास जी का 'पाणिवाद' नामक सिद्धान्त प्रकट हुआ है—

अहो सिद्धार्थता तेषां सन्तीह पाणयः।
अतीव स्पृहये येषां सन्तीह पाणयः॥
न पाणिलाभादधिको लाभः कश्चन विद्यते।

(महाभारत शान्ति १८०।११)

सनत्कुमार-गुणवर्णन—महाभारत इत्यादि ग्रन्थों में इनके गुणों का वर्णन करते हुए कहा गया है कि सनत्कुमार एक सुविख्यात तत्त्ववेत्ता आचार्य हैं, जो

---

१. ऋतंभरा प्रज्ञा में सत्य ज्ञान होता है विपर्यय से कभी नहीं ढकता— 'ऋतं भरा तत्र प्रज्ञा' यो० सू० १।४८।

साक्षात् विष्णु के अवतार माने जाते हैं। इनका 'सनत्कुमार','कुमार' आदि जो नाम प्राप्त होता है उससे इनको 'जीवनमुक्त' भी कहा गया है (दे० म० शां० ३२६, ३५)। ये तथा इनके अन्य भाई कुमारावस्था में उत्पन्न हुए थे अतः ये 'कुमार' इस नाम से प्रसिद्ध थे। महाभारत में इनकी संख्या सात बताई गई हैं एवं इनके नाम इस प्रकार प्राप्त होते हैं :—(१) सन, (२) सनत्कुमार, (३) सनत्सुजात, (४) सनक, (५) सनंदन, (६) कपिल, (७) सनातन।[1] श्रीमद्भागवत में संख्या चार ही हैं। ये ब्रह्मज्ञानी, निवृत्तिमार्गी, योगवेत्ता सांख्यज्ञान-विशारद, धर्मशास्त्रज्ञ एवं मोक्षधर्म-प्रवर्तक थे।[2] ये विरक्त, ज्ञानी एवं क्रियारहित (निष्क्रिय) थे।[3] ये निरपेक्ष, वीतराग एवं निरिच्छ थे।[4] ये सर्वगामी, चिरंजीव (सनातन) एवं इच्छानुगामी थे।[5] अत्यधिक विरक्त होने के कारण इन्होंने प्रजा-निर्माण (सन्तानोत्पत्ति) इन्कार किया था (विष्णु० १.७.६)।

निवास—इनका निवास हिमगिरि पर था। यहीं से विभांडक ऋषि को ज्ञानोपदेश दिया था (म० शां० परि० १–२०)।

उपदेश—सात्वत धर्म की आचार्य-परंपरा में सनत्कुमार एक सर्वश्रेष्ठ आचार्य माने गए हैं। आगे चलकर सनत्कुमार का यही उपदेश नारद ने शुक्र को दिया, जिसका सारतत्त्व इस प्रकार है—

नास्ति विद्यासमं चक्षुर्नास्ति सत्यसमं तपः।
नास्ति रागसमं दुःखं नास्ति त्यागसमं सुखम् ॥

(अर्थात्—विद्या के समान श्रेष्ठ नेत्र इस संसार में नहीं है, साथ ही साथ, सत्य के समान श्रेष्ठ तप, राग के समान बड़ा दुःख एवं त्याग के समान श्रेष्ठ सुख भी इस संसार में अन्य कोई नहीं है।)

इसी उपदेश से शुक्र ने परंधाम में जाने का निश्चय किया तथा आदित्य लोक में प्रवेश किया (दे० शुक्रवैयासकि)।

छान्दोग्य उपनिषद् में नारद को दिया गया उपदेश उपनिषद् कालीन है जिसमें 'आध्यात्मिक सुखवाद' का प्रतिपादन हुआ है। इससे आध्यात्मिक सुख की प्राप्ति होती है। श्रद्धा का निर्माण होता है, फिर श्रद्धा से ज्ञान की प्राप्ति होती हैं, फिर आत्मज्ञान की प्राप्ति होती है। अपने इसी तत्त्वज्ञान में आत्मानु-

---

१. म. शा. ३२७.६-४।६६।

२. वही।

३. भाग. २.७.५।

४. वायु. ६.७१।

५. ह. वं. १.१.३४–३७।

भूति की नैतिक सोपान परंपरा सनत्कुमार जी के द्वारा सुख, कर्म, श्रद्धा, ज्ञान एवं आत्मा का साक्षात्कार इस प्रकार बताया गया है[1]।

धृतराष्ट्र को उपदेश—महाभारत के 'प्रजागर' नामक उपपर्व में धृतराष्ट्र को सनत्कुमार के द्वारा दिया गया तत्त्वोपदेश प्राप्त है जो 'सनत्सुजातीय' नाम से हमारे सम्मुख विराजमान है। यह उपदेश श्रीकृष्ण-दौत्य के पूर्वरात्रि में सनत्सुजात के द्वारा दिया गया था (देखिये विदुर)। उस उपदेश में मानवीय आयुष्य की मृत्यु को इन्होंने भ्रममूलक बताकर मनुष्य को सही मृत्यु उसके द्वारा किये गए प्रमादों में है ऐसा कथन किया है। इन प्रमादों से बचने के लिए मौनादि साधनों को उपयोग करने का एवं क्रोधादि दोषों को दूर करने का मंत्र इन्होंने धृतराष्ट्र को दिया। क्रोधादि-दोषों का त्याग करने से और मौनादि गुणों का संग्रह करने से मनुष्य न केवल प्रमादों से दूर रहता है अपितु उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति भी होती है। इस प्रकार से अपना अभिप्राय इन्होंने स्पष्ट किया है[2]।

महाभारत में प्राप्त यह सनत्सुजातीय उपदेश भगवद्गीता के समान ही महत्त्वपूर्ण माना जाता है। इस ग्रन्थ में जो ज्ञानशील सम्पत्ति भारतवर्ष के लिए एकत्रित की गई है उसे देखकर संसार भर के लोग आश्चर्य अनुभव करते हैं। यही कारण है कि—आद्यशंकराचार्य एवं नीलकंठ आदि आचार्यों ने इस पर स्वतन्त्र भाष्य की रचनाएँ की हैं जो यहाँ प्रस्तुत ग्रन्थ में है। नीलकंठ की टीका नितान्त विख्यात है। इनका पूरा नाम नीलकंठ चतुर्धर (चौधुरी) है। इनका वंशज महाराष्ट्र में अब भी है। इन्होंने महाभारत के अठारहों पर्वपर 'भारत-भावद्दीप' नामक टीका की हैं। यह प्रकाशित है। पूज्य पं० बलदेव उपाध्याय के अनुसार नीलकंठ जी ने अपनी टीका काशी में रह करके की हैं।[3] इनका समय १६५० ई० १७०० ई० के बीच माना गया है।

---

१. छान्दोग्योपनिषद् ७.१७–२२, विशेष-भारतवर्षीय प्राचीन चरित्र कोश, पृ. १०१७।
२. महाभारत उद्योग पर्व ४२–४५।
३. संस्कृत साहित्य का इतिहास (पृ० ७०, उपाध्यायकृत)।

प्रथम अध्याय का सारांश

'सनत्सुजातीयदर्शन' चार अध्यायों में विभक्त है। प्रथम अध्याय में मुख्यतः मृत्यु का अभाव वर्णित है। परम बुद्धि सम्पन्न राजा धृतराष्ट्र ने महात्मा सनत्सुजात को अर्घ्यादि से सम्मानित कर मृत्यु के विषय में प्रश्न किया, हे आचार्य! आपके मत से जब मृत्यु नामक कोई तत्त्व नहीं हैं तो देवों तथा असुरों ने इससे मुक्ति के लिए आचार्यों के समीप दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य का पालन क्यों किया? अतएव मेरे मन में संशय हो रहा है, सत्य क्या है सो मुझे कहिये। इसके उत्तर में भगवान् सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र के मोह को दूर करने के लिए कहा, हे राजन्, मृत्यु है ही नहीं (मृत्युर्नास्तीति)। अतः इससे भयभीत न होवें, मृत्यु प्रमाद करनेवालों यानी अज्ञानियों के लिए है, ज्ञानियों के लिए तो अमरत्व है। कुछ विद्वानों का मत हैं मोह ही मृत्यु है, परन्तु मैं प्रमाद (अज्ञान) को ही मृत्यु और अप्रमाद (ज्ञान) को अमरत्व स्वीकार करता हूँ। इस प्रमाद के कारण ही काम, क्रोधादि आसुरी वृत्तियों से घिरे हुए असुरगण पराभव को प्राप्त हुए यानी मृत्यु के वश में हो गए और अप्रमाद (ज्ञान-आत्मबोधवृत्ति) के कारण देवगण (शम दमादि साधन सम्पन्न) ब्रह्मस्वरूप (ब्रह्मत्व) को पा गए, अमर हो गए। यह अज्ञान ही प्राणियों को जन्म-मरण रूप संसार चक्र में गिराता है। इस अज्ञान का स्वरूप लक्षित नहीं होता, केवल इसके कार्य ही दिखाई देते हैं। जैसे रस्सी साँप की भाँति दिखाई पड़ती है वैसे अज्ञान रूप सर्प का कहीं दर्शन नहीं होता। इसीलिए तो कहा कि मृत्यु प्राणियों को भक्षण नहीं करती, अन्यथा बाघ के समान उसकी उपलब्धि अवश्य होती। ऐसी स्थिति में जिनका अज्ञान नष्ट हो गया है वे ही सुर (देवता) हैं और देहात्म-भाव में जो स्थित हैं वे असुर कहे जाते हैं। वे लोग भी मूर्ख हैं जो 'यम' नामक देवता विशेष को ही मृत्यु रूप में कल्पना करते हैं। अतः अज्ञान से भिन्न मृत्यु नामक अन्य कोई तत्त्व नहीं है। देखिये यमराज पितृलोक में शासन करते हैं, वे ही पुण्यात्माओं के लिए मंगलमय हैं परन्तु पापियों के लिए अमंगलमय हैं। अतएव प्रमाद ही मृत्यु है यह निश्चय हुआ और मिथ्या ज्ञान के निवृत्त होने पर संसार से मुक्ति संभव है।

कर्म-बंधन-मोक्ष का विवरण देते हुए ऋषिकुमार सनत्सुजात कहते है कि प्रारब्ध कर्म का उदय होने पर, कर्म फल में अनुराग रखने वाले लोग देह-त्यागने पर परलोक में जाते हैं इसी लिए मृत्यु से तर नहीं पाते। वह देहाभिमानी जीव परमात्मतत्त्व को जानने का कोई उपाय नहीं करता इसीलिए वह नाना प्रकार के विषयों में फँस कर नाना योनियों में भटकता रहता है। ऐसी दशा में कर्मफल की अनासक्ति होने पर ही कर्मों में प्रवृत्ति रुक सकती है और तभी मुक्ति संभव है।

ज्ञानी और अज्ञानी का भेद बताते हुए कहा कि हे राजन, ज्ञानी के लिए पाप-पुण्य, धर्म-अधर्म कुछ भी माने नहीं रखता। ये सब तो अज्ञानियों के लिए

है, ज्ञानी पुरुष इनमें रहते हुए अपने ज्ञान से इन्हें नष्ट कर देता है। कामनाओं में—विषय वासनाओं में लिप्त पुरुष उन भोगों के साथ ही नष्ट होता है परन्तु विद्वान् पुरुष इच्छाओं का त्याग करके जो कुछ भी शेष पुण्य-पाप रूप कर्मरज हैं उन्हें ज्ञान जल से धो देता है। यानी जैसे-जैसे वासनाओं का अंत होता है वैसे-वैसे आत्मा में ज्ञान ज्योति फैलाने लगती है। उससे अज्ञान रूपी अन्धकार विनष्ट हो जाता है और विद्वान् ब्रह्म स्वरूप हो जाता है। इस प्रकार 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञान के द्वारा आत्मसाक्षात्कार प्राप्त करके अज्ञान रूपी मृत्यु सागर से तर जाता है। आत्मज्ञानी के लिए यज्ञादि कर्म भी निरर्थक है क्योंकि वह निष्काम पुरुष है, अतएव वह ज्ञान मार्ग के द्वारा सभी मार्गों की उपेक्षा करके परमात्म-स्वरूप होता हुआ परब्रह्म को पा लेता है।

ईश्वर का जगत् सृष्टि में प्रयोजन (कारण) को बताते हुए कहा कि नित्य ऐश्वर्य सम्पन्न परमात्मा नित्य-शाश्वत अधिकारी होकर भी मिथ्याभूत माया के माध्यम से ईक्षणादिपूर्वक समस्त विश्व की रचना करता है। संसार की इस रचना में जो कुछ भी स्थावर-जंगम दिखाई पड़ता है, वह उस परमात्मा की शक्ति ही है। माया के सम्बन्ध से ही वह (ईश्वर) जगत का उपादान कारण है, चूँकि वेद के 'बहु स्यां प्रजायेय' आदि वचनों से इस सिद्धान्त की पुष्टि होती है।

विद्वानों के आचरण (सदाचार) के विषय में बताते हैं कि वह ज्ञानी पुरुष निष्काम भाव से केवल धर्म का ही अनुष्ठान करता है। वैदिक लोग उस जन की प्रशंसा करते हैं। वे लोग स्त्री-पुत्रादि में आसक्त (अन्तर्मुखी) एवं बाह्य व्यवहार में चतुर जन को अधिक मान नहीं देते। ऐसे ज्ञानी को निरापद स्थान में रहने के लिए कहा गया हैं यानी जो स्थान चोर-डाकुओं, उपद्रवी पशुओं से रहित हों वहीं पर ऐसे विद्वानों को रहना चाहिए ताकि योग क्षेम में कोई परेशानी अनुभव न होवे। ऐसा ब्रह्मवेत्ता अपने कुटुम्बीजनों में रहते हुए भी अपनी साधना को गुप्त रखे यानी ब्रह्मनिष्ठ अपने ज्ञान का ढिंढोरा नहीं पीटता फिरता। कहा भी 'जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्।'

सत्य ब्रह्म के विषय में कहते हैं कि जो ब्राह्मण निर्धन होने पर भी वेद विहित अहिंसा व्रत में अचल है एवं यज्ञादि की उपासना में निरत रहता है वही साक्षात् ब्रह्म की मूर्ति है। ऐसा ब्राह्मण यद्यपि देवताओं को भी जान लेता है फिर भी वह ब्रह्मज्ञानी के तुल्य नहीं हो सकता क्योंकि वह यज्ञादि कर्म में सदा प्रयत्नशील रहता है। ब्रह्मज्ञानी को किसी फल की आवश्यकता नहीं रहती क्योंकि वह साक्षात् ब्रह्मस्वरूप ही होता है। यदि ऐसे ब्रह्मज्ञानी की चाहे कोई प्रशंसा करे चाहे निन्दा करे या अपमान करे वह तनिक भी मन में क्षोभ न उत्पन्न करे, तब वही सच्चा श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी है।

मान और मौन के विषय में कहते हैं कि यद्यपि ये दोनों एक साथ नहीं रहते परन्तु मान से इस लोक में सुख मिलता है और मौन से परलोक में शांति मिलती है। यानी लोकानुरंजन का साधन मान है और परमार्थ का विषय मौन है।

ब्रह्म लक्ष्मी के प्रवेश द्वार के विषय में बताते हैं कि उस ब्राह्मी पद रूप लक्ष्मी की प्राप्ति के छः प्रकार के मुख्य द्वार हैं जिनका आचरण अत्यन्त क्लेश साध्य है। वे इस प्रकार हैं—(१) सत्य, (२) अकुटिलता, (३) लज्जा, (४) दम, (५) पवित्रता और (६) ब्रह्मविद्या (आत्मविद्या)।

द्वितीय अध्याय का सारांश

इस द्वितीय अध्याय में मौन और इसके साधनों पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम अध्याय के अन्त में मौन का माहात्म्य बताया गया, उसे सुनकर धृतराष्ट्र के मन में इस विशिष्ट मौन के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई तब धृतराष्ट्र ने कहा—हे मुनिवर, यह वचन निरोधात्मक मौन किस स्वभाव के पुरुष को होता है। यह कौन सा मौन है, लोक में ब्रह्म जिज्ञासु इस मौन का आचरण कैसे करते हैं? कृपया मेरे इन प्रश्नों का उत्तर दीजिए। सनत्सुजात जी ने कहा—हे राजन्, जहाँ से मन के साथ वाणी (रूप वेद) उस ब्रह्म को विना पाये ही लौट आती है यानि जो वाणी और मन से अगोचर है (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह) इसलिए उसी ब्रह्म को यहाँ 'मौन' कहा गया है। वह ब्रह्मरूप परमात्मा सम्पूर्ण शास्त्रों का उत्पत्ति स्थान है और उसी के द्वारा उस मौन रूप ब्रह्म का ज्ञान होता है। उस पर ब्रह्म की प्राप्ति श्रवण, मनन, निदिध्यासन द्वारा आत्म-चिन्तन करने पर होती है। यानि जब निर्विकल्पक समाधि लग जाती है तब वही मौनावस्था ब्राह्मी स्थिति कहलाती है।

धृतराष्ट्र ने वेदों पर आक्षेप के बारे में पूछा—भगवन् ऋग्वेदादि का ज्ञाता पाप करता है तो उसे पाप लगता है कि नहीं? तब सनत्सुजात ने कहा—हे राजन्, जो भी पुरुष पापाचरण करता है चाहे वह चारों वेदों का ज्ञाता ही क्यों न हो, वे (ऋग्वेदादि) उस अज्ञानी को उसके पाप से कभी नहीं बचा सकते। जो कपट पूर्वक धर्माचरण करता है, उस मिथ्याचारी को वेद उसके पापों से उद्धार नहीं करता। जैसे पंख निकल आने पर पक्षी अपना घोसला छोड़ देते हैं। वैसे ही प्राण निकलते समय वेद भी उसका परित्याग कर देते हैं। इस बात को सुनकर धृतराष्ट्र ने कहा—तब तो इस वेद की कोई उपयगिता नहीं रही और इस पर कौन आचरण करेगा? तब सनत्सुजात बोले—हे महानुभाव, यह सारा संसार उस परब्रह्म परमात्मा से प्रतिभासित हो रहा हैं। अतः उससे यहाँ भिन्न कुछ भी नहीं है। वही सत्य है यह जगत् मिथ्या है (ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या)। उस ईश्वर के स्वरूप को वेद भी नाना रूपों में निर्देश करते हैं तथा यह भी प्रतिपादन करते हैं कि वह परब्रह्म परमात्मा इस विश्व से सर्वथा विलक्षण है, वाणी तथा मन से सर्वथा अनिर्वचनीय है। वेदो में जो यज्ञादि का विधान है वह भी तो उस परब्रह्म की प्राप्ति के साधन ही हैं। जो निष्काम भाव से इन यज्ञादि कर्मों को करता हुआ ईश्वर को अर्पित करता है वह संचित पाप को नष्ट करता है और अन्तःकरण ज्ञान से प्रकाशित हो जाता है।

अब विद्वान् और अविद्वान के लिए कर्म का फल-वैषम्य कहते हैं। इस लोक में जो तप, यज्ञादि का अनुष्ठान किसी फल की इच्छा से किया जाता है, उसका फल देव लोक में भोगा जाता है परन्तु जो ब्रह्मज्ञानी ज्ञान पूर्वक कामना रहित होकर व्रत-तपादि करते हैं वे इसी लोक में आत्मज्ञान रूप महान् फल का उपभोग करते हैं। ब्रह्मज्ञानियों का यह फल अनन्त काल का है, इसके विपरीत सकाम उपासकों का फल थोड़े ही समय में समाप्त होने वाला होता है।

वह कौन सा तप है, जिससे मोक्ष की प्राप्ति होती है? इसका उत्तर देते हैं कि हे राजन्, वह विशुद्ध तप है, इसलिए कि ऐहिक पारलौकिक भोगवासनाओं से रहित है। यह सकाम तप की अपेक्षा फल की दृष्टि से भी समृद्ध होता है यानी इससे परमार्थ पद रूप अनन्त फल प्राप्त होता है। इस तप के गुण का बखान करते हुए बताते हैं कि वह तप ही समस्त चराचर विश्व का मूल है। श्रोत्रिय (वेदपाठी) ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् इस निष्काम तप से ही परम अमृतत्व को प्राप्त करते है। तपस्या के दोषों के बारे में बताते हैं कि हे राजन, तपस्या में बाधा पहुँचाने वाले क्रोधादि बारह दोष हैं। अतः ज्ञानीजनों को काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि इन बारह दोषों को सर्वथा त्याग देना चाहिए। और सत्य दम आदि बारह गुणों को धारण करना चाहिए। इन्हीं सत्यादि गुणों से धीरे-धीरे आत्म साक्षात्कार प्राप्त होते हैं। ऐसा सत्यनिष्ठ व्यक्ति ऐन्द्रिय सुख से विमुख होकर धीरे-धीरे बुद्धिस्थ चिदात्मा का अनुभव करने लगता है। इसके बाद दम के अठारह दोषों को गिनाया है; फिर मद के अठारह दोषों को बताने के बाद छः प्रकार के त्यागों का वर्णन किया और प्रमाद को अष्टगुणात्मक बताया है। इसके बाद सनत्सुजात ने धृतराष्ट्र से कहा—हे राजन्, आप सत्य स्वरूप हो जाओ, सत्य में ही सारा संसार है, सत्य में ही अमृत की प्रतिष्ठा है। हे राजन, इस संसार में वही सुखी है, आनन्दमय जीवन जीता है जो भूतकाल की चिन्ता और अनागत आशा को त्याग देता है।

ब्राह्मण का लक्षण बताते हुए कहते हैं कि जो वेद-वेदाङ्गों में पारंगत है वह केवल बहुभाषी है, ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण नहीं है। जो सत्यात्मक ब्रह्म की ब्राह्मी स्थिति से कभी च्युत नहीं होता वही सच्चा ब्राह्मण है। इसी प्रकार आत्म-चिन्तनरूप मौन धारण से ही साधक मुनि होता है, केवल अरण्यवासी और कषाय वस्त्र धारण करने से कोई मुनि नहीं होता। अतः आत्म-चिन्तन में लीन होकर उस अविनाशी ब्रह्म को जान लेता है, वही श्रेष्ठ मुनि है (स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते -२.४८)। इसी प्रकार जो समस्त शब्दों एवं वाक्यों के अर्थ को स्पष्ट करने वाला है वह वैयाकरण है, परन्तु मुख्य वैयाकरण वह है जो मूल ब्रह्म से नाम रूप अर्थों को व्यक्त करता है। इसी प्रकार जो साधक सम्पूर्ण लोकों को प्रतिक्षण देख लेता है वह सर्वदर्शी है परन्तु जो सत्य स्वरूप ब्रह्म को जान लेता है वह सर्वज्ञ कहलाता है। इस प्रकार हे राजन्, ज्ञान, सत्य आदि का निरन्तर मनन करते हुए ब्राह्मण ब्रह्म का साक्षात्कार करता है। इसी तरह वेदों का विधिवत् अध्ययन करते हुए उसमें निहित आत्म-तत्त्व का चिन्तन करने वाला परमात्मा का साक्षात्कार कर लेता है।

तृतीय अध्याय का सारांश

इस अध्याय में ब्रह्मचर्य की महिमा वर्णित है। ब्रह्मचारी में और कामी पुरुष में महान अन्तर है। यह ब्रह्मविद्या कामी पुरुषों के लिए अत्यन्त दुर्लभ है। अतः हे कुमार, कृपा करके आप मुझे यह बतायें कि वह विश्व की सारभूत परमार्थ स्वरूप ब्रह्म विद्या कैसे किसको उपलब्ध होती है। ऋषि सनत्सुजात बोले—हे राजन्, वह इतना शीघ्र उपलब्ध होने वाला नहीं है। वह ब्रह्म तत्त्व तो तभी प्राप्त हो सकता है जब बुद्धि रूप गुहा में मन के विलीन हो जाने पर ब्रह्मचर्य पूर्वक उसका बार बार चिन्तन किया जाय। अतः वह ब्रह्मविद आचार्य के समीप नें ही प्राप्त हो सकता है। वह विद्या सदैव ब्रह्मवेत्ता गुरु में प्रकाशित है उसे प्राप्त करके मनुष्य मुक्त हो जाता है। ऐसी स्थिति में वह ब्रह्मचर्य पालन कैसे सम्भव है ? इप पर कहते हैं कि श्रद्धावान पुरुष ही ब्रह्मवेत्ता गुरु से ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है 'यो यत् श्रद्धः स एव सः-गीता। यानी श्रद्धा की निर्मलता से वह शिष्य तद्रूप हो जाता है। गीता भी प्रतिपादन करती है कि श्रद्धारहित पुरुष उस ईश्वर को नहीं प्राप्त करता है और बार बार इस मृत्युरूप संसार-चक्र में भ्रमण करता रहता है 'अश्रद्दधना पुरुषा ··· अप्राप्य मां निवर्तन्ते मृत्युसंसार-वर्तमनि'-गीता अ० एक श्लोक-३ देखिये। इस प्रकार कामना रहित व्यक्ति सत्त्व गुण से युक्त होकर इस पाँच भौतिक देह को आत्मा से पृथक् रूप में समझने लगता है। इस परम पुरुषार्थ सिद्धि में (ब्रह्म प्राप्ति में) आचार्य (गुरु) का बहुत बड़ा योगदान है। ऐसे आचार्य को प्रमाद रहित होकर शिष्य प्रणाम (सेवा आदि) करे, उस ब्रह्मज्ञानी गुरु का अपने ऊपर उपकार मानते हुए उससे कभी द्रोह न करे।

चतुष्पाद ब्रह्मचर्य का विवरण देते हुए सनत्सुजात कहते हैं कि शिष्य गुरु के शरण में जाकर श्रद्धापूर्वक अनन्यभाव से विद्या ग्रहण करता है वही ब्रह्मचर्य व्रत का प्रथमपाद है। इसी प्रकार शिष्य गुरु की सेवा करते हुए गुरु-पत्नी तथा गुरु-पुत्र में भी पवित्र भाव से श्रद्धा रखे ताकि सिद्धि में कोई विघ्न न पड़े तब ब्रह्मचर्य का द्वितीय पाद कहा जाता है।

इस प्रकार जब गुरु (आचार्य) से प्राप्त विद्या के सुख का अनुभव करते हुए शिष्य गुरु के प्रति सम्मान प्रकट करे और अपने को कृत-कृत्य समझे तब ब्रह्मचर्य का तृतीय पाद कहलाता है। ब्रह्मचर्य के चौथे पाद में कहा गया है शिष्य गुरु का (आचार्य का) सब प्रकार से यानी प्राण, धन, मन, वचन एवं कर्म से प्रिय (सेवाभाव) करे। ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त होनेवाली विद्या को चतुष्पदी विद्या कहा है। इस विद्या के विषय में बताते हैं कि जब गुरु के समीप रहते शिष्य में ब्रह्म को जानने की इच्छा उत्पन्न हो तब ब्रह्म प्राप्ति की पहली अवस्था है। फिर गुरु की शरण में सत्संग का भाव उदय हो तब दूसरा पाद (अवस्था) है। जब धर्म प्राप्ति के लिए निरंतर उत्साहित हो तब तृतीय पाद है। जब दृढ़तापूर्वक तत्त्व-बोध के लिए शास्त्रों का मंथन करने लगे तब चतुर्थ पाद है। इस प्रकार ज्ञान, सत्य, दम, आदि बारह गुणों एवं अन्य धर्मादि अंगों

को धारण करने वाला शिष्य आचार्य के समीप में ब्रह्मज्ञानी होता है यानी आचार्य (गुरु) के सभी गुणों को ग्रहण कर लेता है और संसार-सागर से तर जाता है। श्रुति भी कहती है 'आचार्यदेवः विद्यां विदित्वा साधिष्ट प्रापत'।

इस ब्रह्मचर्य की प्रशंसा में कहा है कि इसके प्रभाव से सूर्यदेवता संसार को तपाने में समर्थ होते हैं। गन्धर्व, अप्सरागण अलौकिक रूप को प्राप्त करते हैं। और भी इस ब्रह्मचर्य के अनेक फल देखने में आते हैं। इससे अभीष्ट की सिद्धि होती है। तात्पर्य यह कि जिस भावना से ब्रह्मचर्य पालन किया जाता है वह उसी रूप में फलदायी होता है अतः जीवन में सबसे उत्तम वस्तु ब्रह्मचर्य है।

ज्ञान से ब्रह्म की प्राप्ति के विषय में सनत्सुजात जी कहते हैं कि हे राजन्, यज्ञादि सकाम कर्मों से स्वर्गादि अनित्य लोक की प्राप्ति होती है परन्तु जो ब्रह्म को जानता है वह विद्वान है, वह अपने ज्ञान से ज्योतिर्मय परमात्मा को प्राप्त कर लेता है 'ज्ञानेन विद्वान् तेज अभ्येति'—(श्लोक १८, अ० २)।

ब्रह्म के स्वरूप के विषय में धृतराष्ट्र पूछते हैं कि हे भगवन्, ब्रह्मज्ञानी विद्वान् पुरुष अपने ज्ञान से जिस अविनाशी परमपद (अमृतपद) को प्राप्त करता है उसका रूप कैसा है? सफेद, लाल, काला या सुवर्ण जैसे पीले रंग का? इसके उत्तर में भगवान सनत्सुजात ने कहा—हे नराधिप, जिन रंगों का आप नाम गिना गए उनमें से किसी में भी वह आत्म-प्रकाश रूप ब्रह्म नहीं भासता। न पृथ्वी पर है, न आकाश में है, न समुद्र के जल में है, न ऋग्वेदादि सूक्तों में वह दृष्टिगोचर होता परन्तु आत्मा में ही महाव्रती पुरुषों को वह ब्रह्म ज्योति दिखाई देती है। वह नित्य होकर समस्त विश्व में सूक्ष्मरूप से अभिव्याप्त है और असीम है। श्रुति कहती है—अणोरणीयान् महतो महीयान्'। उसी ब्रह्म ज्योति से यह सम्पूर्ण विश्व प्रकाशित है। आत्मज्ञानी विद्वान् अपने ज्ञान द्वारा स्वयं अपनी आत्मा में ही (तप-व्रत द्वारा) उसका साक्षात्कार कर लेता है। श्रुति कहती है—'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।' वह सर्वव्यापक है। सबका आधार है। जो लोग ब्रह्म स्वरूप को इस रूप में जान जाते हैं, वे अमृतत्त्व को पा जाते हैं।

चतुर्थ अध्याय का सारांश

इस अध्याय में ब्रह्म के विराट् रूप का वर्णन है। सर्व प्रथम योगी लोग अपनी आत्मा में निरंतर जिस विशुद्ध ब्रह्म रूप को देखते हैं उसके विषय में सनत्सुजात जी कहते हैं जो विशुद्ध ब्रह्म है वह महान ज्योतिर्मय है एवं विशाल यशरूप है। देवता लोग उसी की उपासना करते हैं। उसी के प्रकाश से सूर्य प्रकाशित है 'येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः' (श्रुति)। योगी जन उसी सनातन एवं ऐश्वर्य सम्पन्न परमात्मा को (अपने में हृदय में ध्यान करते) देखते हैं। फिर आत्मसाक्षात्कारियों की किस प्रकार से मुक्ति होती है इस विषय में कहते हैं कि अज्ञानी लोग सकाम भाव से संसार में चक्र लगाते रहते हैं, भटकते हैं परन्तु मुक्ति चाहने वाले लोग सुनहले पर्ण वाले वेदवृक्ष पर चढ़कर ज्ञान-वैराग्य

रूपी पंख से युक्त हो यथेष्ट मोक्ष सुख में लीन हो जाते हैं। यानी विनश्वर वस्तुओं को छोड़कर अविनाशी ब्रह्म की चिन्ता में लीन हो जाते हैं। गीता भी कहती है, वह वैराग्य से मिलता है—'वैराग्येण च गृह्यते।'

अब लय-योग द्वारा ब्रह्मप्राप्ति को दिखाते हैं। जो वायु नासिका से हृदय तक पहुँचता हैं वह 'प्राणवायु' है, जो हृदय से ऊपर की ओर नासिका तक लौटने वाली है वह 'अपान' वायु है। साधक जब अपने प्राण वायु को निर्विकल्प समाधि में पहुँचा देता है तब वह ब्रह्म में लीन हो जाता हैं। जो आत्मा और अनात्मा के भेद को नहीं जानता वह संसार कूप में भटकता है और अपनी अन्तरात्मा में ही स्थित परमात्मा को जान नहीं पाता। संतकबीर ने जीवधारी व्यक्ति के ऐसे ही रूप को लक्षित करके 'संग ही सूते पिया परिचे नाहीं' ऐसा वचन कहा। जैसे कूप में रहने वाला मेढक विशाल संसार के विषय में कुछ नहीं जानता वैसे ही देहादि को आत्मा समझने वाले मूढ़ लोग हृदय में छिपे हुए उस परमात्मा को नहीं जान पाते। परन्तु योगी लोग उस परमात्मा को अपने हृदय में दर्शन करते हैं। ज्ञानियों के मोक्ष के स्वरूप को बताते हुए कहते हैं कि ईश्वर सब में समान भाव से बसा है। उसके लिए न कोई प्रिय है न अप्रिय। वह मुक्त और बद्ध दोनों में समान है परन्तु बद्ध पुरुष अज्ञानवश उसे नहीं देख पाता। धीर योगीजन उसी का अपने हृदय कमल में साक्षात्कार करते हैं।

अब ब्रह्म के निरूपण के विषय में बताते हुए कहते हैं कि उस जगन्नियन्ता के सकल्प से वायु आदि पंचभौतिक रूप इस देह में प्रकट होते हैं और फिर लय होते हैं उसी प्रकार ब्रह्माण्ड का भी अन्त होता है। पंचभूतात्मक ब्रह्माण्ड भी उसी में विलीन हो जाता है। क्योंकि कार्य का अपने कारण में लीन होना एक नियम है। अतः यह सिद्ध हुआ कि सम्पूर्ण पंचभूतों का नियन्त्रण किसी चेतन शक्ति पर अवलम्बित है। अधिक क्या कहें वही परमात्मा ब्रह्म-ज्ञानियों के लिए अमृत है। उसी पर यह जगत स्थिर है, उसी की आज्ञा से सब जीवित हैं और अन्त समय में सब जीव उसी में विलीन भी हो जाते हैं। उस ब्रह्म-सृष्टि के अंत की खोज में चाहे कोई कितना भी दौड़धूप करे उसका कहीं भी ओर छोर नहीं मिल सकता, अतः वह प्रभु 'अनन्त' इस नाम से लोक में विख्यात है। परन्तु योगीजन उस अनन्त देव को, सृष्टि के मूल कारण को अपने हृदय में देखते हैं।

अंत में महाभारतीय युद्ध से मुख मलिन किये हुए दुर्योधनादि- पुत्रों की ममता में ग्रसित अनाथ धृतराष्ट्र को देख करके परमदयालु सनत्सुजात जी ने इस प्रकार कहा—राजन्, तुम शोक मोह को दूर भगा दो, जो अनादि काल के संकट से मुक्ति दिलाने वाला है वही सब कुछ है, सर्वे सर्वा है। इसलिए मैं तुम्हारा पिता हूँ, तेरी माता के रूप में हूँ, तेरे पुत्रों के रूप में हूँ, अधिक क्या कहूँ मैं ही सबकी आत्मा हूँ। अतः इन मारने वाले या जीव धारण करने वालों के विषय में तेरा सोचना व्यर्थ है। मैं ही आपका वृद्ध पितामह हूँ। पुत्र हूँ। अतः तुम सब ही हमारे भीतर स्थित हो यदि इस शरीर के नाना भेद हटा दो

तो आत्मतत्त्व से मैं न तुझ में हूँ न तूँ मुझमें हो। मैं सूक्ष्म से भी सूक्ष्म होकर सब प्राणियों में आत्म-तत्त्व रूप से विराजमान हूँ। इस संदर्भ में दूसरों का अनुभव बताते हुए कहते हैं कि अकेले मेरा ही उस सच्चिदानन्द घन में यह अनुभव नहीं है, अपितु मेरे अन्य बन्धु—सनक, सनन्दन, सनातन, वामदेवादि अनेक ब्रह्मज्ञानियों का भी ऐसा ही अनुभव है और उन्होंने अपने हृदय कमल-कोश में समस्त प्राणियों के परम पिता परमेश्वर को ही स्थापित किया है तथा उनका दर्शन किया है। अतः उस हृदयस्थ परमात्मा को आत्मरूप से जानने वाला ही मृत्यु पर विजय पाता है और कोई कल्याणकारी मार्ग नहीं है 'तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय।'

इस प्रकार हम देखते हैं कि सनत्सुजातीय दर्शन अपने विषयवस्तु से शोकमोहाभिभूत धृतराष्ट्र को शांति का संदेश देने में पूर्ण सक्षम सिद्ध हो रहा है। यद्यपि गीता से इसकी तुलना की गई है परन्तु गीता ज्ञान-भक्ति-कर्म की सुधा बरसाती हुई जहाँ अर्जुन को कर्तव्य बोध करा करके केवल लड़ने के लिए उत्साहित करती है वहीं यह सनत्सुजातीयदर्शन प्रपंचों से हटाकर आत्मचिंतन की ओर प्रेरित करता है तथा हृदय में शांतरस का सृजन करता है तथा जीवन पवित्र बनाता है।

अन्त में हम उन गुरुजनों के आभारी हैं जिनके ज्ञानवृत्त से रस का दोहन करके इस नवरंगी कीर्तिलता को पुष्पित पल्लवित किया है। आशा है इसकी सुरभि चतुर्दिक फैलेगी। मनुष्य सर्वज्ञ नहीं है अतः भ्रम त्रुटि होना स्वाभाविक है। गुरुजनों से विनम्र निवेदन है कि त्रुटियों को सुधार कर इसे अपनावेंगे।

चौखम्भा संस्कृत संस्थान के संचालक श्रीमोहनदास गुप्त का साहित्य जगत् सदैव उपकार मानेगा जिन्होंने अपने उदारभाव से अनुपलब्ध शाङ्करभाष्य एवं नीलकंठी के साथ श्री कन्हैयालाल जोशी द्वारा विरचित शब्दार्थ सहित सरल हिन्दी व्याख्या से विभूषित कर के पुनः सबको उपलब्ध करा दिया है। इसकी शब्दार्थ-व्याख्या-अन्वय मुखेन है अतएव अन्वय अलग से नहीं दिया गया। छात्रों की सुविधा के लिए अन्त में कुछ प्रश्नपत्र जोड़ दिए गए हैं जो परीक्षोपयोगी हैं।

अंत में काशीपति विश्वनाथ जी एवं मां अन्नपूर्णा से बार-बार निवेदन करते हैं कि हम सब पर अहेतुकी कृपा दृष्टि सदैव बनी रहे ताकि देववाणी की सेवा में कोई शैथिल्य न आवे। ज्ञान ज्योति सदैव अमर रहे। इति शिवम्।

विनयावनत
कपिलदेव गिरि

रंगभरी एकादशी
शुक्रवार
२५-३-८३

सभाष्यसनत्सुजातीयविषयानुक्रमणिका

प्रथमोऽध्यायः

द्वितीयोऽध्यायः

तृतीयोऽध्यायः

चतुर्थोऽध्यायः

॥ श्रीः ॥

सनत्सुजातीयम्

श्रीमच्छंकराचार्यविरचितभाष्यसहितम्

तथा

नीलकंठकृतटीकासमलंकृतम

शा० भा०—नमः पुंसे पुराणाय पूर्णानंदाय विष्णवे ।
निरस्तनिखिलध्वांततेजसे विश्वहेतवे ॥१॥

ॐ नम आचार्येभ्यो ब्रह्मविद्भ्यः ॥

सनत्सुजातविवरणं संक्षेपतो ब्रह्मजिज्ञासूनां सुखावबोधायारभ्यते ।

स्वतश्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मस्वरूपोऽप्यात्मा स्वाश्रयया स्वविषययाऽविद्यया स्वानुभवगम्यया साभासया स्वाभाविकचित्सदानंदाद्वितीयब्रह्मात्मभावात्प्रच्युतोऽनात्मनि देहादावात्मभावमापन्नः अप्राप्ताशेषपुरुषार्थः प्राप्ताशेषानर्थः अविद्याकामकर्मपरिकल्पितैरेव साधनैरिष्टप्राप्तिमनिष्टपरिहृतिं चाकांक्षन् लौकिकवैदिकसाधनैरनुष्ठितैरपि परमपुरुषार्थं मोक्षाख्यमलभमानो मकरादिभिरिव रागद्वेषादिभिरितस्तत आकृष्यमाणः सुरनरतिर्यगादिप्रभेदभिन्नासु नानायोनिषु परिवर्त्तमानो मोमुह्यमानः संसरन्कथंचित्पुण्यवशाद्वेदोदितेनेश्वरार्थंकर्मानुष्ठानेनापगतरागादिमलोऽनित्यादिदोषदर्शनेनोत्पन्नेहामुत्रफलभोगविरागो वेदान्तेभ्यः प्रतीयमानं ब्रह्मात्मभावं बुभुत्सुः वेदोदितशमदमादिसाधनसंपन्नो ब्रह्मविदमाचार्यमुपेत्य आचार्यानुसारेण "वेदांतश्रवणादिना अहं ब्रह्मास्मि" इतिब्रह्मात्मतत्त्वमवगम्य निवृत्ताज्ञानतत्कार्यो ब्रह्मरूपोऽवतिष्ठत इति इयं वेदान्तमर्यादा । एतत्सर्वं क्रमेण दर्शयिष्यति भगवान् सनत्सुजातः ।

धृतराष्ट्रः शोकमोहाभितप्तः "तरति शोकमात्मविद्" इतिवेदांतवादमुपश्रुत्य ब्रह्मविद्यया विना शोकापनयनमशक्यं मन्वानः—

अनुक्तं यदि ते किंचिद्वाचा विदुर विद्यते ।
तन्मे शुश्रूषवे ब्रूहि विचित्राणीह भाषसे ॥ १ ॥

इति विदुरायोक्तवान् । श्रुतवाक्योऽपि परमकारुणिकः सर्वज्ञः सन् ब्रह्मविद्यां विशिष्टाधिकारिविषयां मन्वानः—

शूद्रयोनावहं जातो नातोऽन्यद्वक्तुमुत्सहे" इति शूद्रयोनिजत्वादौपनिषदब्रह्मात्मतत्वज्ञाने 'नाहमधिकृतः' इत्युक्त्वा कथमेनं धृतराष्ट्रं ब्रह्मविद्यया परमे

पदे परमात्मनि पूर्णानन्दे स्वाराज्ये स्थापयिष्यामीति मन्वानः छान्दोग्योपनिषत्प्रसिद्धमितिहासं स्मृत्वा नान्यो भूमानं तमसः परं पारम् आत्मानं दर्शयितुं शक्नुयादिति मत्वा तमेव भगवन्तं सनत्सुजातं योगबलेनाहूय प्रत्युत्थानादिभिर्भगवन्तं पूजयित्वा आह क्षत्ता—

भगवन्संशयः कश्चित् धृतराष्ट्रस्य मानसे ।
यो न शक्यो मया वक्तुं त्वमस्मै वक्तुमर्हसि ॥ १॥
यं श्रुत्वाऽयं मनुष्येन्द्रः सर्वदुःखातिगो भवेत् ।
लाभालाभौ प्रियद्वेष्यौ तथैव च जरान्तकौ ॥ २ ॥
विषहेत मदोन्मादौ क्षुत्पिपासे भयाभये ।
अरतिं चैव तन्द्रीं च कामक्रोधौ क्षयोदयौ ॥ ३ ॥ इति ।

भगवन् येनासौ सकलसंसारकारणधर्माधर्मविवर्जितः सर्वदुःखातिगो मुक्तो भवेत् तमस्मै धृतराष्ट्राय वक्तुमर्हसीत्युक्तवान्—

वैशंपायन उवाच—

ततो राजा धृतराष्ट्रो मनीषी संपूज्य वाक्यं विदुरेरितं तत् ।
सनत्सुजातं रहिते महात्मा पप्रच्छ बुद्धिं परमां बुभूषन् ॥ १ ॥

शा० भा०—तत इति । ततः एतद्वाक्यसमनन्तरं विदुरेण सनत्सुजातं प्रति ईरितम् उक्तं यत् वाक्यं तत् सम्पूज्य संमान्य, सनत्सुजातं सनदिति सनातनं ब्रह्मोच्यते, हिरण्यगर्भाख्यम् । तस्मात्सनातनात् ब्रह्मणो मानसात् ज्ञानवैराग्यादिसमन्वितः सुष्टु जात इति संनत्सुजातः इत्युक्तो भगवान् सनत्कुमारः, तं रहिते रहसि प्राकृतजनवर्जिते देशे महात्मा महाबुद्धिः पप्रच्छ पृष्टवान् बुद्धिं परमामुत्तमां पूर्णानन्दाद्वितीयविषयाम् । किमर्थम् ? बुभूषन् भवितुमिच्छन् ब्रह्मात्मविद्ययाऽपहृतमात्मानं लब्धुमिच्छन्नित्यर्थः ॥ १ ॥

नील०—श्रीः ॥ उद्योगपर्वणि सनत्सुजातीये भाष्यकारादिभिर्व्याख्यातान्संप्रतितनपुस्तकेषु च स्थितान्पाठान् श्लोकांश्च गुणोपसंहारन्यायेनैकीकृत्य व्याख्यायते—ततो राजेति । मनीषी शास्त्रसंस्कृतमनीषावान् रहिते एकांते परमां बुद्धिं परविद्यां "अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते" इति श्रुतिप्रसिद्धां पप्रच्छ । एतेन विषयो दर्शितः प्रयोजनं दर्शयति—महात्मा बुभूषन्निति । परं ब्रह्म भवितुमिच्छन् "ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" इति ब्रह्मज्ञानस्य ब्रह्मभावफलकत्वश्रवणात् विदुरेरितं वाक्यं सनत्सुजातः प्रोवाच मृत्युर्नास्तीति । भारतेऽपि मृत्युशब्दितस्य बंधस्याभावं श्रुत्वा प्रतिपूज्य संगत्वात्कपटवतोऽपि मम पापान्द्भयं नास्तीति संतोषं प्राप्य तेन ज्ञानस्य सर्वकर्मोन्मूलनहेतुत्वं दर्शितं । यथोक्तं—

हत्वाऽपि स इमांल्लोकान्न हन्ति न निबध्यत इति ॥ १ ॥

शब्दार्थ—ततः=इसके अनन्तर, मनीषी=बुद्धिमान्, महात्मा=महान् बुद्धि सम्पन्न, परब्रह्म (नील०)। धृतराष्ट्रः=कौरव पिता, विदुरेरितम्=विदुर द्वारा कहे हुए, तत्=उस, वाक्यम्=वचन को, सम्पूज्य=आदर देकर, रहिते=एकान्त में, परमाम्=उत्तम, बुद्धिम्=ज्ञान को, बुभूषन=चाहते हुए अथवा (परब्रह्म) होने की इच्छा करते हुए (नील०), सनत्सुजातम्=सनत्सुजात से, पप्रच्छ=प्रश्न किया ॥१॥

सरलार्थ—वैशम्पायन ने कहा—जनमेजय, इसके अनन्तर परम बुद्धि सम्पन्न एवं महात्मा राजा धृतराष्ट्र ने विदुर के कहे हुए वचन को आदर देकर (विदुर के स्मरण मात्र से उपस्थित हुए) सनत्सुजात से उत्कृष्ट ज्ञान की इच्छा करते हुए अर्थात् परमतत्त्व को जानने की अभिलाषा से (मृत्यु के विषय में) प्रश्न किया ॥ १ ॥

तदेवाह—

धृतराष्ट्र उवाच—

सनत्सुजात यदिदं शृणोमि मृत्युर्हि नास्तीति तवोपदेशम् ।
देवासुरा आचरन्ब्रह्मचर्यममृत्यवे तत्कतरं नु सत्यम् ॥ २ ॥

शा० भा०—सनत्सुजातेति। हे सनत्सुजात ! यत् मृत्युर्हि नास्तीति शिष्यान् प्रति उपदिष्टमिति विदुरः प्राह, देवासुराः पुनरमृत्यवे मृत्योरभावाय अमृतत्व-प्राप्तये ब्रह्मचर्यमाचरंतो गुरौ वासं कृतवंतः। श्रूयते च छांदोग्ये "तद्धोभये देवा असुरा अनुबुबुधिरे" इत्याद्यारभ्य "तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः" इत्यन्तेनेन्द्रविरोचनयोः प्रजापतौ ब्रह्मचर्यचरणम् "एकाशतं ह वै वर्षाणि मघवा प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास" इति च। यदि मृत्युर्नास्तीति तव पक्षः तर्हि कथं देवा-सुराणाममृत्यवे ब्रह्मचर्यचरणं ? तत् तयोर्मृत्युसद्भावासद्भावपक्षयोः कतरं नु सत्यं, यत्सत्यं तद्वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥ २ ॥

नील०—प्रश्नमेवाह—सनत्सुजातेति। मृत्युरिति। ध्रुवं जन्म मृतस्य चेति साह-चर्याज्जन्ममरणप्रवाहरूपो बंध उच्यते, स नास्तीति तव प्रकर्षेण वादं पूर्वोक्तं विदुरा-दीनां मुखात् शृणोमि हे सनत्सुजात, सनत् सर्वदा सुष्ठु जातं जन्म यस्य नित्य-कुमारत्वेन जरामरणविवर्जितेत्यर्थः। श्रुतिश्चैतदाह—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता इति।

तथा अमृत्यवे मृत्योरभावाय "एकशतं वर्षाणि मघवान् प्रजापतौ ब्रह्मचर्यमुवास"

इति बंधनिवृत्त्यर्थो यत्नश्च श्रूयते। नह्यसतो नित्यनिवृत्तस्य निवृत्त्यर्थं यत्नो युज्यते, तदनयोः पक्षयोः कतरत् मतं सत्यं तद् ब्रूहीति शेषः॥ २॥

शब्दार्थः—सनत्सुजात !=हे सनत्सुजात, यत्=जो, मैं इदं=यह, श्रृणोमि=सुनता हूँ, हि=कि, मृत्युः=मृत्यु, न=नहीं, अस्ति=है, इति=ऐसा, तव=आपका, उपदेशम्=सिद्धान्त है। तथा यह भी सुनता हूँ कि देवासुराः=देवों और असुरों ने, अमृत्यवे=अमरत्व प्राप्त करने के लिए, ब्रह्मचर्यम्=ब्रह्मचर्य का, आचरन्=आचरण किया तत्=तो इन दोनों में, कतरत्=कौन सा पक्ष, सत्यम्=यथार्थ है॥ २॥

सरलार्थः—धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया—हे सनत्सुजात, मैंने यह भली-भाँति सुना है कि आपके मन में है कि समस्त प्राणियों में भय उत्पन्न करने वाला मृत्यु नामक कोई तत्त्व विद्यमान नहीं है; परन्तु यह भी सुनता हूँ कि इसी मृत्यु से अभय प्राप्त करने हेतु देवों तथा असुरों ने आचार्यों के समीप दीर्घकाल तक ब्रह्मचर्य का पालन किया। (तो जो वस्तु विद्यमान नहीं है, उसकी निवृत्ति के लिए यत्न क्यों ?) अतः मेरे मन में संशय हो रहा है अतः मुझे कहिए—इन दोनों पक्षों में से सत्य क्या है ?

यहाँ धृतराष्ट्र ने शङ्का उपस्थित करने के लिए मृत्यु के विषय में दो भिन्न-भिन्न मतों का उपस्थापन किया। इसका आशय यह है कि श्रुति में जहाँ "न निरोधो न च चोत्पत्तिः" इत्यादि द्वारा मृत्यु के सर्वथा अभाव का उपदेश किया गया है वहाँ अन्यत्र 'तौ ह द्वात्रिंशतं वर्षाणि ब्रह्मचर्यमूषतुः" (छान्दो०) इत्यादि रूप से देवों द्वारा मृत्यु पर विजय पाने की भी बात कही गयी है अतः प्रश्न होता है कि उभय-विध पक्ष में किसकी सत्यता स्वीकार की जाय ?॥ २॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—

श्रीसनत्सुजात उवाच—

अमृत्युः कर्मणा केचित् मृत्युर्नास्तीति चापरे।
श्रृणु मे ब्रुवतो राजन्यथैतन्मा विशंकिथाः॥ ३॥

शा० भा०—अमृत्युरिति। केचित्पुनरविद्याधिरूढाः परमार्थतो मृत्युसद्भावं मन्यमानाः वेदोक्तेन कर्मणा अमृत्युः अमृतत्वं भवतीति मत्वा अमृत्यवे अमृतत्व-प्राप्तये वेदोक्तं कर्माचरंति। तथा अन्ये विषयविषांधाः विषयव्यतिरेकेण निर्विषयं मोक्षममन्यमानाः कर्मणैवामृत्युः अमृतत्वं देवादिभावं वर्णयंति। तत्रैव च रागि-गीतं श्लोकमुदाहरंति—

अपि वृन्दावने शून्ये सृगालत्वं स इच्छति।
नतु निर्विषयं मोक्षं कदाचिदपि गौतम॥ इति॥

तथैव च परमात्मव्यतिरेकेण द्वितीयमपश्यन्तो ज्ञानकर्मभ्याममृतत्वं वर्णयंति । अपरे पुनरद्वितीयात्मदर्शिनः आत्मव्यतिरेकेण द्वितीयमपश्यन्तो मृत्युर्नास्तीति वर्णयंति । हे राजन्, यथैतत्पक्षयोरविरोधः सम्भवति तथा ब्रुवतो मे मम वाक्यं शृणु मा विशंकिथाः मयोक्तेऽर्थे शंका मा कृथाः ॥ ३ ॥

नील० – यत् कर्मणा ब्रह्मचर्येण मृत्युर्नास्तीति तेन सत्यस्य बधस्य साधनेन नाश इति अपृच्छः पृष्ठवानसि । यच्चापरं मृत्युः स्वरूपत एव नास्तीत्यपृच्छः, एतत् एतयोः पक्षयोः परस्परविरुद्धत्वं माविशंकिथाः मा मंस्थाः । अमृत्युः कर्मणा केचिदिति पाठे कर्मसाध्यं अमृतत्वम् उत ज्ञानसाध्यमिति पक्षद्वयोपन्यासः, तयोश्च क्रमसमुच्चयपक्षाश्रयेण विरोधाभावं मन्वानो मा विशंकिथा इति ब्रवीतीत्यर्थः ॥ ३ ॥

शब्दार्थः —राजन्, केचित्=कुछ लोग, कर्मणा=ब्रह्मचर्य पालन रूप कर्म द्वारा, अमृत्युः=अमरत्व स्वीकार करते हैं । च=और, अपरे=दूसरे लोग, मृत्युः=मृत्यु, नास्ति=नहीं है, इति=ऐसा मानते हैं, किन्तु एतत्=यह बात, यथा=जिस प्रकार है अर्थात् जो सत्य है मे=मुझसे, ब्रुवतः=वक्ता से, शृणु=सुनो, मा विशङ्किथा=शङ्का मत करो ॥ ३ ॥

सरलार्थः · सनत्सुजात ने कहा—हे राजन्, (आपने जो प्रश्न किया है, इस विषय में दो पक्ष हैं—) कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि नित्य-नैमित्तिक, ब्रह्मचर्य पालन आदि कर्मों के अनुष्ठान से मृत्यु दूर होती है और कुछ लोग ऐसा मानते हैं कि "मृत्यु है ही नहीं" । परन्तु इन दोनों पक्षों में जो यथार्थ है, उसे मैं कहता हूँ, तुम सुनो । आप मेरे इस कथन में पुनः किसी भी प्रकार की आशङ्का न करें ॥३॥

कथम् ?—

उभे सत्ये क्षत्रियाद्यप्रवृत्तो मोहो मृत्युः संमतो यः कवीनाम् ॥
प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि सदाऽप्रमादममृतत्वं ब्रवीमि ॥४॥

शा० भा०—उभे इति ॥ ये पूर्वोक्ते मृत्योरस्तित्वनास्तित्वे ते उभे हे क्षत्रिय. आद्यप्रवृत्ते य आदिसर्गस्तमारभ्य प्रवृत्ते । अथवा क्षत्रियाद्य क्षत्रियप्रधान, प्रवृत्ते वर्तमाने । कथं पुनरुभयोः परस्परविरुद्धयोरस्तित्वनास्तित्वयोः सत्यत्वमिति ? तत्राह–मोहो मृत्युः संमतो यः कवीनामिति । भवेदेवं विरोधोऽस्तित्वनास्तित्वयोः, यदि परमार्थरूपो मृत्युः स्यात् । कस्तर्हि मृत्युः ? यो मोहो मिथ्याज्ञानम्, अनात्मनि आत्माभिमानः, स मृत्युः केषांचित्कवीनां मतः । अहं तु न तथा मृत्युं ब्रवीमि । कथं तर्हि ? प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि । प्रमादः प्रच्युतिः स्वाभाविकब्रह्मभावात् । तं प्रमादं मिथ्याज्ञानस्यापि कारणम् आत्मानवधारणमात्माज्ञानं मृत्युं जननमरणादिसर्वानर्थबीजम् अहं ब्रवीमि । तथा सदाऽप्रमादं स्वाभाविकस्वरूपेणावस्थानम् अमृतत्वं ब्रवीमि । तथाच श्रुतिः स्वरूपावस्थानमेव

मोक्षपदं दर्शयति—"परं ज्योतिरुपसंपद्य स्वेन रूपेणाभिनिष्पद्यते" इति। तथ अनुगीतासु स्पष्टमाह—

एको यज्ञो नास्ति ततो द्वितीयो यो हृच्छयस्तमहमनुब्रवीमीति॥

यतः स्वरूपावस्थानलक्षणो मोक्षः, अत एव चतुर्विधक्रियाफलविलक्षणत्वाद न कर्मसाध्यममृतत्वं, नापि समुच्चिताभ्यां ज्ञानकर्मभ्यामिति "अमृत्युः कर्मण केचित्" इत्येतदनुपपन्नमेवेत्युक्तं भवति। वक्ष्यति चास्य पक्षस्य स्वयमे निराकरणं—

कर्मोदये कर्मफलानुरागास्तत्रानुयांति न तरंति मृत्युम्।
ज्ञानेन विद्वांस्तेजो अभ्येति नित्यं न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः॥ इति॥४

नील०—अविरोधमेवाह-उभे इति। एतस्य एकस्यैव पुंसोऽवस्थाभेदेन उ अपि मत्ये एव हे क्षत्रिय, विद्धि अविद्यावस्थाया बंधः सत्यः कर्मनाशश्च, विद्याब तु रज्जूरगवत्कालत्रयेऽपि नास्ति; मोहाद्भासमानस्य तु ज्ञानमात्रेण निवृत्तिर्भवती भावः। आद्यप्रवृत्ते इति पाठे उभे अपि मते अनादिनी नित्ये इत्यर्थः। सिद्धांतमाह मोहादिति। निर्मोहानां तु नास्त्येव मृत्युरित्यर्थः। मोह विवृणोति-प्रमादमिति आत्मतत्त्वानवेक्षणं प्रमादः मूलाज्ञानमिति यावत। तदेव मृत्युः, मृत्युर्वै तम इ श्रुतेः। अप्रमादं अवहिततां, सम्यगवेक्षण ज्ञानमिति यावत्। "ज्ञानं सम्यगवेक्षणम इति स्मृतेः। अमृतत्व अमृतत्वहेतुः॥ ४॥

शब्दार्थः—क्षत्रिय=राजन्, आद्यप्रवृत्ते=सृष्टि के प्रारम्भ से आज तक, उभे दोनों पक्ष, सत्ये=सत्य माने जाते हैं, और कवीनाम्=विद्वानों का, यः=जो, सम्मतः मत है कि मोहः=मिथ्या ज्ञान ही, मृत्युः=मृत्यु है परन्तु अहं=मैं तो, प्रमादं=प्रमा (अज्ञान का मूल) को, वै=ही, मृत्युम्=मृत्यु, ब्रवीमि=कहता हूँ, सदाऽप्रमादम सदैव अप्रमाद को ही, अमृतत्वम्=अमरत्व ब्रवीमि=कहता हूँ॥ ४॥

सरलार्थः—हे क्षत्रिय राजन्, तुम इस प्रश्न के दोनों पक्षों को यथार्थ जानो। अर्थात् ये दोनों ही सिद्धान्त अधिकारी भेद से युक्तिसंगत ही हैं। कु विद्वानों का यह मत है कि मोह ही मृत्यु है, परन्तु मैं प्रमाद का ही मृत्यु औ अप्रमाद को अमरत्व स्वीकार करता हूँ।

आशय यह है कि दोनों ही पक्ष उचित हैं तो मृत्यु क्या है? इस विषय मोह को ही मृत्यु कहा गया है। मोह अज्ञान का नाम है, अर्थात् अनात्म वस्तु आत्मबुद्धि करना ही मोह है अतः उस अवस्था में अज्ञानी के लिए मृत्यु है अ आत्म ज्ञान द्वारा जिसके अज्ञान की निवृत्ति हो चुकी है उसके लिए मृत्यु का सर्व अभाव है जैसे कि रज्जू को रज्जू रूप में जानने वाले के लिए त्रिकाल में भी नहीं होता है। अर्थात् निर्मोह के लिए मृत्यु है ही नहीं। प्रमाद स्वाभाविक आ

स्थिति से च्युत हो जाना है अतः वही अज्ञान का मूल है अर्थात् वही सम्पूर्ण अनर्थों का मूल है ॥ ४ ॥

कथमेतदवगम्यते प्रमादो मृत्युरप्रमादोऽमृतत्वमिति तत्राह—

प्रमादाद्वा असुराः पराभवन्नप्रमादाद् ब्रह्मभूताः सुराश्च ।
न वै मृत्युर्व्याघ्र इवात्ति जंतून्नाप्यस्य रूपमुपलभ्यते हि ॥५॥

शा० भा०—प्रमादादिति । प्रमादात्स्वाभाविकब्रह्मभावप्रच्यवनात् अनात्मनि देहादावात्मभावात्, असुराः विरोचनप्रभृतयः पराभवन् पराभूताः । तथाच श्रुतिः—"अनुपलभ्यात्मानम्" इत्यारभ्य "देवा वा असुरा वा ते पराभविष्यन्ति" इत्यन्तेन । तथा अप्रमादात्स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनाऽवस्थानात् ब्रह्मभूताः सुराश्चेन्द्रादयः । तथाच श्रुतिः "तं देवा आत्मानमुपासते तस्मात्तेषां च सर्वे च लोका आप्ताः सर्वे च कामाः" इत्यादिना । अथवा असुषु प्राणेषु इन्द्रियेष्वेव रमंते इत्यसुराः, अनात्मविदो वैषयिकाः प्राणिनोऽसुराः । ते स्वाभाविकब्रह्मभावमतिक्रम्य अनात्मनि देहादावात्मभावमापन्नाः पराभवन् तिर्यगादियोनिमापन्नाः । तथाच बह्वृचब्राह्मणोपनिषत्—"तस्मान्न प्रमाद्येत नातीयात्" इति । तथा स्वस्मिन्नात्मन्येव रमंति इत्यात्मविदः सुराः । तथा चोक्तम्—

आत्मन्येव रतिर्येषां स्वस्मिन् ब्रह्मणि चाचले ।
ते सुरा इति विख्याताः सूरयश्च सुरा मताः ॥ इति ।

अप्रमादात्ते स्वाभाविकब्रह्मात्मनाऽवस्थानात् ब्रह्मभूताः । निवृत्तमिथ्याज्ञानतत्कार्याः ब्रह्मैव संवृत्ताः इत्यर्थः । नन्वन्य एव सर्वजंतूनां उपसंहारको मृत्युः प्रसिद्धः, कथमुच्यते "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि" इति ? तत्राह—न वै मृत्युरिति । न वै मृत्युरत्ति भक्षयति प्राणिनः । यदि भक्षयेत् तर्हि व्याघ्र इवास्य रूपमुपलभ्येत न चोपलभ्यते तस्मान्नास्त्येव मृत्युः ॥ ५ ॥

ननुपलभ्यते सावित्र्युपाख्याने—

अथ सत्यवतः कायात् पाशबद्धं वशंगतम् ।
अंगुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात् ॥१॥ इति ।

नील०—प्रमादात् अज्ञानात् असुराः असुषु रममाणाः कामक्रोधाद्यासुरवृत्तिभिराक्रान्ताः पराभवन् मृत्युवशा अभूवन् । तथा अप्रमादात् ज्ञानात् ब्रह्मभूताः पूर्वं ब्रह्मैव संतः अविद्ययाऽब्रह्मत्वमात्मनो मन्यमानाः विद्यया पुनर्ब्रह्मैव भवंति । 'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति' इति श्रुतेः । सुराश्चेति पाठे सुराः शमदमादिमंतः ब्रह्मभूताः ब्रह्मभावं गता इत्यर्थः । मृत्युरज्ञान जंतून् अत्ति संसारसंकटे पातयति, न तु व्याघ्र इव दृश्यते कार्यमेवास्य दृश्यते, न स्वरूपमित्यर्थः । हि यतः अस्य रूपं निरीक्ष्यमाणमपि न उपलभ्यते । नहि रज्जूरगोपादानमज्ञानमुरगवत् द्रष्टुं शक्यमित्यर्थः ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—वा=क्योंकि, प्रमादात्=प्रमाद से ही, असुराः=असुरगण, पराभवन्= पराजित हुए, च=और, अप्रमादात्=अप्रमाद से ही, सुराः=देवगण, ब्रह्मभूताः= ब्रह्ममय हो गये। मृत्युः=मृत्यु, व्याघ्र इव=व्याघ्र के समान, जन्तून्=प्राणियों को न अत्ति=भक्षण नहीं करता। अपि=और भी, न=नहीं, अस्य=इसका, रूपम्=रू ही, उपलभ्यते=उपलब्ध होता है ॥ ५ ॥

सरलार्थः—इस प्रमाद अर्थात् अज्ञान के कारण ही काम, क्रोधादि आसुरं वृत्तियों से आक्रान्त असुरगण पराभव को प्राप्त हुए अर्थात् मृत्यु के वश में हो गये। और अप्रमाद-ज्ञान अर्थात् स्वाभाविक आत्मस्थिति के कारण (अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से) देवगण (शम-दमादि साधन सम्पन्न) ब्रह्मस्वरूप हो गए यह निश्चय है कि मृत्यु व्याघ्र के समान प्राणियों का भक्षण नहीं करती क्योंकि उसका कोई रूप उपलब्ध नहीं होता।

श्रुति में उल्लेख आता है कि ब्रह्मा के समीप असुरराज विरोचन और देवरा इन्द्र दोनों गये परन्तु विरोचन ने प्रमादवश उनके प्रथम प्रवचन का अर्थ देहात्म भाव ही मान लिया और अप्रमाद के कारण अनेक वार उनके सान्निध्य से यथा तत्त्वज्ञान (ब्रह्मत्व) को प्राप्त कर इन्द्र कृतकृत्य हो गये। यह अज्ञान प्राणियं को जन्म-मरण रूप संसार चक्र में गिराता है। इस अज्ञान का स्वरूप लक्षित नहीं होता, केवल इसके कार्य ही दिखाई पड़ते हैं क्योंकि रज्जु में सर्प की भ्रान्ति के कारण अज्ञान सर्प के समान नहीं देखा जा सकता है। इसी कारण कहा गया कि मृत्यु प्राणियों का भक्षण नहीं करती, अन्यथा व्याघ्र के समान उसकी उपलब्धि अवश्य होती। अतः जिसकी अपने आत्मरूप में अवस्थिति है अर्थात् जिनके अज्ञान की निवृत्ति हो चुकी है, वे ही सुर हैं और देहात्मभाव में स्थित ही असुर कहे जाते हैं ॥ ५ ॥

कथमुच्यते नास्य रूपमुपलभ्यते इति ? तत्राह—

यमं त्वेके मृत्युमतोऽन्यमाहुरात्मावासममृतं ब्रह्मचर्यम्।
पितृलोके राज्यमनुशास्ति देवः शिवः शिवानामशिवोऽशिवानाम् ॥६

शां० भा०—यममिति। सत्यनुपलभ्यते, तथापि न साक्षान्मृत्युः, कस्तर्हि यः प्रमादाख्यो मृत्युः अज्ञानं स एव, साक्षाद्विनाशहेतुत्वात्। तथा अज्ञानस्य विनाशहेतुत्वं श्रूयते—"इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदवेदीन्महती विनष्टिः" इति। वृहदारण्यके प्रमादाख्यस्याज्ञानस्य साक्षान्मृत्युत्वं दर्शितम्—"मृत्युर्वै तमो ज्योतिरमृतम्" इति। यस्मात्प्रमाद एव साक्षात् सर्वानर्थबीजं तस्मान्न प्रमाद्येत् चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मभावेनैवावतिष्ठेतेत्यर्थः। तथा चाज्ञानस्य बन्धहेतुत्वं विज्ञानस्य मोक्षहेतुत्वमुक्तं भगवता—"अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जंतवः"

इति। यस्मात्प्रमाद एव मृत्युः अप्रमादोऽमृतत्वम्, अत एव न कर्मसाध्यममृतत्वम्। नापि कर्मप्राप्यं, नित्यसिद्धत्वात्, नित्यप्राप्तत्वाच्च। तथाच श्रुतिः—"एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य" इति। तथा—"तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" "तमेव धीरो विज्ञाय प्रज्ञां कुर्वीत ब्राह्मणः" इति ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं दर्शितम्। तथा च "न चक्षुषा गृह्यते" इति। वक्ष्यति च भगवान् ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वम्—"अन्तवन्तः क्षत्रिय" (३—१८) इति "एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा" इति च। तथाच मोक्षधर्मे—

कर्मणा बध्यते जन्तुर्विद्यया च विमुच्यते।
तस्मात्कर्म न कुर्वंति यतयः पारदर्शिनः॥ १॥ इति
"ज्ञानं विशिष्टं न तथा हि यज्ञाः" इति च।

तथाच ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वं मन्यमानः सर्वकर्मपरित्यागमाह भगवान् वेदाचार्यो मनुः—

यथोक्तान्यपि कर्माणि परिहाय द्विजोत्तमः।
आत्मज्ञाने शमे च स्याद्वेदाभ्यासे च यत्नवान्॥ इति।

तथाऽऽह भगवान्परमेश्वरः—

ज्ञानं तु केवलं सम्यगपवर्गफलप्रदम्।
तस्माद्भवद्भिर्विमलं ज्ञानं कैवल्यसाधनम्॥ १॥
विज्ञातव्यं प्रयत्नेन श्रोतव्यं द्रष्टव्यमेव च।
एकः सर्वत्रगो ह्यात्मा केवलश्चितिमात्रकः॥ २॥
आनन्दो निर्मलो नित्यः स्यादेतत्सांख्यदर्शनम्।
एतदेव परं ज्ञानं एतन्मोक्षोऽनुगीयते॥ ३॥
एतत्कैवल्यममलं ब्रह्मभावश्च वर्णितः।
आश्रित्यैतत्परं तत्त्वं तन्निष्ठास्तत्परायणाः॥ ४॥
गच्छन्ति मां महात्मानं यतन्तो विश्वमीश्वरम्॥ इति॥

ननु एवं चेत्तर्हि कर्माणि नानुष्ठेयानि?
न नानुष्ठेयानि, किंतु ज्ञानिना नानुष्ठेयानि

तथा चाह भगवान्—
"यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्" इति।

तथाच ब्रह्मपुराणे कावषेयः—

"किमद्य नश्चाध्ययनेन कार्यम्" इति। तथाच बह्वृचब्राह्मणोपनिषत्—"किमर्थं वयमध्येष्यामहे"। तथाच बृहदारण्यके विदुषः कर्मसंन्यासं दर्शयति—"एतद्ध स्म वैतत् पूर्वे विद्वांसः प्रजां न कामयन्ते" इति॥ तथा लैंगे—

"ज्ञानामृतेन तृप्तस्य कर्मणा प्रजया च किम्" इति। तथाच आथर्वणी-श्रुतिः—"नैतद्विद्वान्" इति। केन तह्यं नुष्ठेयानि ? अज्ञानिना अरुरुक्षुणा सर्वं कर्माणि सर्वदा अनुष्ठेयानि, न ज्ञानिना। तथा चाह भगवान्—"लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा" इति, "आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्" इति, "ज्ञानयोगेन सांख्यानाम्" इति च। तथा चाह भगवान्सत्यवतीसुतः—"द्वाविमावथ पन्थानौ" इति। नन्वेवमारुरुक्षुणाऽपि कर्माणि नानुष्ठेयानि, कर्मणां बन्धहेतुत्वात्। तथाचोक्तं भगवता—"कर्मणा बध्यते जंतुर्विद्यया च विमुच्यते" इति। सत्यम्, तथापि ईश्वरार्थतया फलनिरपेक्षमनुष्ठीयमानानि न बंधहेतूनि। तथाचोक्तं भगवता—"यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र" इति। किमर्थं तर्हि तेषामनुष्ठानं ? सत्त्वशुद्ध्यर्थमिति ब्रूमः। तथाचोक्तं भगवता—"कायेन मनसा बुध्या" इति। "यज्ञो दान तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्" इति "गतसंगस्य" इति च। तथाच—

कषायपक्तिः कर्माणि ज्ञानं तु परमा गतिः।
कषाये कर्मभिः पक्वे ततो ज्ञानं प्रवर्त्तते। इति॥

ननु कर्मणामपि मोक्षहेतुत्वं श्रूयते—"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयम्" इति। तथाच मनुः—

"तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरे उभे" इति। नैतत्, पूर्वापराननुसन्धाननिबन्धनोऽयं भ्रमः। तथाहि—"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह" इत्युक्त्वा "अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति विद्याविद्ययोर्भिन्नविषयत्वेन समुच्चयाभावः श्रुत्यैव दर्शितः। इममेवार्थं स्पष्टयन् भगवान्मनुः—"तपो विद्या च विप्रस्य निःश्रेयसकरे उभे" इत्युक्ते समुच्चयाशंका मा भूदिति "तपसा कल्मषं हंति विद्ययाऽमृतमश्नुते" इति तपसो नित्यनैमित्तिकलक्षणस्य कर्मणः अन्तःकरणशुद्धावेव विनियोगं दर्शितवान्। तथा "ईशावास्यमिदꣳसर्वम्" इति सर्वस्य तावन्मात्रत्वमुक्त्वा तदात्मभूतस्य सर्वस्य तावन्मात्रत्वं पश्यतस्तद्दर्शनेनैव कृतार्थस्य साध्यान्तरमपश्यतः "तेन त्यक्तेन भुंजीथाः" इति त्यागेनैवात्मपरिपालनमुक्त्वा, अतदात्मवेदिनः केन तर्हि आत्मपरिपालनम् ? इत्याशंक्याह—"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे" इति। एवं सर्वभूते त्वयि नरमात्राभिमानिन्यज्ञे अविद्यानिमित्तोत्तरपूर्वाघयोरश्लेषविनाशाभावात्, कुर्वन्नेव सदा यावज्जीवं कर्म जिजीविषेद् इत्यज्ञस्य नरमात्राभिमानिनः शुद्ध्यर्थं यावज्जीवं कर्माणि दर्शयति। अत एभिरपि वाक्यैः कर्मणां शुद्धिसाधनत्वमेवावगम्यते न मोक्षसाधनत्वम्। यद्यप्युक्तं—"तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च" इति चशब्दात्समुच्चयोऽवगम्यते—तदपि प्रसिद्ध-

श्रुतिविनियोगानुसारेण वेदितव्यम् । तथा चानुगीतासु स्पष्टमाह भगवान् कर्मणां शुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्—

नित्यनैमित्तिकैः शुद्धैः फलसंगविवर्जितैः ।
सत्त्वशुद्धिमवाप्याथ योगारूढो भविष्यति ॥
योगारूढस्ततो याति तद्विष्णोः परमं पदम् ॥ इति

वक्ष्यति भगवान् सनत्सुजातः शुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वम्—"तदर्थमुक्तं तप एतत्" (२—८) इति । ननु कथं सत्त्वशुद्धिद्वारेणैव मोक्षसाधनत्वं, विनाऽपि सत्त्वशुद्धिं ज्ञानेनैव मोक्षः सिध्यत्येव । सत्यम् । ज्ञानेनैव मोक्षः सिध्यति, किंतु तदेव ज्ञानं सत्त्वशुद्धिं विना नोत्पद्यत इति वयं ब्रूमः । तथाचोक्तम्—"ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः" इति । तथा चाह याज्ञवल्क्यः—"तथाऽविपक्वकरण आत्मज्ञानस्य न क्षमः" इति । यस्मात् विशुद्धसत्त्वस्यैव नित्यानित्यवस्तुविवेकादिद्वारेण मोक्षसाधनज्ञाननिष्पत्तिः, तस्मात्सत्त्वशुद्धयर्थं सर्वेश्वरमुद्दिश्य सर्वाणि वाङ्मनःकायलक्षणानि श्रौतस्मार्तानि कर्माणि समाचरेत्—यावद्विशुद्धसंत्त्व इहामूत्रफलभोगविरागो योगारूढो भवति । तथाचाह भगवान्—"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगम्" इति । "संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः" इति । तस्य लक्षणमुक्तं—"यदा हि नेन्द्रियार्थेषु" इति । यस्तु पुनरेवं यज्ञदानादिना विशुद्धसत्त्व इहामुत्रफलभोगविरागो योगारूढो भवति तस्य शम एव कारणं न कर्म इति । तथाचोक्तम्—"योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते" न कर्म इति । तस्माच्छमदमादिसाधनसंपन्नः श्रवणादिसमन्वितो योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थित इति । कथं तर्हि योगानुष्ठानं कार्यम् ? शृणु—समे देशे शर्करावन्हिवालुकाशब्दजलाशयादिवर्जिते मनोऽनुकूले शुचौ नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चैलाजिनकुशोत्तरं स्थिरमासनं प्रतिष्ठाप्य तत्रोपविश्यासनं स्वस्तिकादि बध्वा समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं विश्वादीन् विश्वतैजसप्राज्ञान् जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तिक्रमेण कार्यकारणविनिर्मुक्ते पूर्णात्मनि उपसंहृत्य पूर्णात्मना स्थित्वा ध्यायेत्पुरीशयं देवं पूर्णानन्दं निरञ्जनम् अपूर्वानपरं ब्रह्म नेति नेत्यादिलक्षणं अशनायाद्यसंस्पृष्टमनुदितानस्तमितज्ञानात्मनाऽवस्थितं परं परमात्मानमोमिति । तथा चोक्तं ब्रह्मविद्भिः—

विविक्तदेशमाश्रित्य ब्राह्मणः शुद्धचेतसा ।
भावयेत्पूर्णमाकाशं हृद्याकाशाश्रयं विभुम् ॥

तथा चोक्तं ब्राह्मे—तस्माद्विमोक्षाय कुरु प्रयत्नमिति । एवं युंजन्सदाऽऽत्मानं परमात्मत्वेन यदा साक्षाद्विजानाति तदा निरस्ताज्ञानतत्कार्यो वीतशोकः कृतकृत्यो भवति । तथाच बृददारण्यके—आत्मानं चेद्विजानीयादिति । तथा ईशा-

वास्ये—यस्मिन् सर्वाणि भूतानीति। तथा च कठवल्लीषु—तं दुर्दर्शमिति। तथाच कावषेयगीतासु—आत्मज्ञः शोकसंतीर्णो न बिभेति कुतश्चनेति। तथाच मनुः-सर्वेषामपि चैतेषामात्मज्ञानं परं मतमिति। तथा चाह भगवान्—एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यादिति। यस्मात्तद्विज्ञानादेव परमपुरुषार्थप्राप्तिः तस्मात्तमेव परमानन्दात्मानं आत्मत्वेन जानीयादयमहमस्मीति न किंचिदन्यच्चिन्तयेत्। तथाच श्रुतिः—तमेव धीरोविज्ञायेति। तथाचाह भगवान्—संकल्पप्रभवान्कामानिति। एवं प्रसंगात्सर्वशास्त्रार्थः संक्षेपतो दर्शितः॥

अथेथानीं प्रकृतमनुसरामः—यस्मात्प्रमाद एव सर्वानर्थबीजं तस्मात् प्रमादमेवाहं मृत्युं ब्रवीमि। न यमम्। यमं तु पुनरेके विषयविषांधाः अविद्याधिरूढाः स्वात्मव्यतिरेकेण द्वितीयं पश्यन्तो मृत्युं अतो मयोक्तान्मृत्योः प्रमादादन्यं मृत्यन्तरं वैवस्वतमाहुः, आत्मावासं आत्मनि बुद्धौ वसतीत्यात्मावासस्तम्। तथाच मनुः—

यमो वैवस्वतो राजा यस्तवैष हृदि स्थितः।
तेन चेदविवादस्ते मा गंगा मा कुरून् गमः॥

अमृतम् अमरणधर्माणं ब्रह्मचर्यं ब्रह्मणि स्वात्मभूते चरमाणं ब्रह्मनिष्ठमित्यर्थः। श्रूयते कठवल्लीषु—कस्तं मदामदं देवं मदन्यो ज्ञातुमर्हतीति। पितृलोके राज्यमनुशास्तीति। कथमनुशास्ति ? शिवः सुखप्रदः शिवानां पुण्यकर्मणाम् अशिवोऽसुखप्रदः अशिवानां पापकर्मणाम्॥ ६॥

नील०—ननु यदि मृत्योः रूपं नोपलभ्यते तर्हि तत्सत्त्वे किं प्रमाणमत आह-यममिति। अतः अज्ञानाख्यान्मृत्योरन्य यमसंज्ञ एके मूढाः मृत्युमाहुः।

'अथ सत्यवं::कायात्पाशबद्धं वशंगतम्। अङ्गुष्ठमात्रं पुरुषं निश्चकर्ष यमो बलात्" इति अस्य व्यतिरेकमुखेन आत्मनि कल्पितत्वमाह—आत्मावसन्नमिति। आत्मनि प्रतीच्येवावसन्नं लीनं तेन रज्जूरगादिवद्यमादिकमपि आत्मनि कल्पितमेवेत्यर्थः। आत्मावासमिति पाठे आत्माश्रयमित्यर्थः। यमप्रशमोपायमहामृतमिति। ब्रह्मचर्यं ब्रह्मणि चर्या आत्मानुसंधानं निरस्ताखिलकल्पनाजलं अमृतत्वं मोक्षहेतुः, योगिनां यमभयं नास्तीत्यर्थः। "न तस्य रोगो न जरा न मृत्युः" इति श्रुतेः। ननु कल्पितस्य यमस्य मृगजलादेरिवार्थक्रियाकारित्वं न युक्तमत आह—पितृलोक इति। "यादृशो यक्षस्तादृशो वलिः" इतिन्यायेन आत्मनि कल्पितगरुडभावस्य विषनिवर्तकत्ववत् तत्राप्यर्थक्रियाकारित्वमस्तीति भावः। अत्र युक्तिमाह -शिव इति। शीतोष्णादिवदेकस्मिन् सत्यविरुद्धधर्मद्वयस्यासंभवात् तस्मिन्नेव शिवत्वाशिवत्वे रज्ज्वां सर्पदंडादिवत्कल्पिते इत्यर्थः॥ ६॥

शब्दार्थः—एके=कुछ लोग, तु=तो, अतः=इस प्रमाद से. अन्यम्=भिन्न, यमम्=यम को ही मृत्युम्=मृत्यु, आह=कहते हैं। तथा आत्मावासम्=आत्मा के आश्रित, अथवा आत्मावसन्नम्=आत्मा में लीन अर्थात् कल्पित (नील०), देवः= यमराज, पितृलोके=पितृलोक में, अमृतम्=अमरत्व, ब्रह्मचर्यम्=ब्रह्मनिष्ठ, राज्यम्= राज्य का, अनुशास्ति=शासन करते हैं। और शिवानाम्=शुभ कर्म करने वालों के लिए शिवः=कल्याण स्वरूप, अशिवानाम्=अशुभ कर्म करने वालों के लिए, अशिवः=अमङ्गलरूप हैं ॥ ६ ॥

सरलार्थः—यदि मृत्यु का रूप नहीं है, तो उसकी सत्ता में क्या प्रमाण है? इस पर कहते हैं—कुछ लोग इसी कारण प्रमाद (अज्ञान) से भिन्न 'यम' को ही मृत्यु कहते हैं, और आत्मा में कल्पित ब्रह्मचर्यपालन को ही अमरत्व मानते हैं। यमराज पितृलोक में शासन करते हैं। वे ही पुण्यकर्मियों के लिए मङ्गलमय और पापियों के लिए अमङ्गलमय हैं।

तात्पर्य यह है कि यद्यपि अज्ञान से भिन्न मृत्यु नामक अन्य कोई तत्व नहीं है और चूँकि अज्ञान का कोई रूप आकार नहीं होता, कार्य मात्र से ही उसकी प्रतीति होती है। अतः मूढ़ लोग 'यम' नामक देवता विशेष की ही मृत्यु रूप में कल्पना करते हैं ॥ ६ ॥

एवं तावत्प्रमाद एव मृत्युरिति मृत्युरूपं निर्द्धारितम्। इदानीं तस्यैव कार्यात्मनाऽवस्थानं दर्शयति—

आस्यादेष निःसरते नराणां क्रोधः प्रमादो मोहरूपश्च मृत्युः।
अहंगतेनैव चरन् विमार्गान् न चात्मनो योगमुपैति कश्चित् ॥७॥

शा० भा०—आस्यादिति। यः प्रमादाख्यो मृत्युः स प्रथममास्यात्मना परिणमते। आस्यः अभिमानात्मकोऽहंकारः। तथाचोक्तं—"सर्वार्थक्षेपसंयोगादसुधातुसमन्वयात्। आस्य इत्युच्यते घोरो ह्यहंकारो गुणो महान्" एवमहंकारात्मना स्थित्वा ततोऽहंकारान्निःसरति निर्गच्छति कामात्मना। ततः कामः स्वविषये प्रवर्तमानः प्रतिहतः क्रोधः प्रमादो मोहरूपश्च भवति। ततोऽहंगतेन अहंरूपमापन्नेनाहंकाराद्यात्मना स्थितेनाज्ञानेन तदात्मभावमापन्नो "ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहं वैश्योऽहं शूद्रोऽहं स्थूलोऽहं कृशोऽहममुष्य पुत्रोऽस्य नप्ता" इत्येवमात्मको रागद्वेषादिसमन्वितश्चरन् विमार्गान् श्रौतस्मार्तविपरीतान्मार्गान्, न चात्मनः परमात्मनो योगं समाधिलक्षणम् उपैति कश्चिदपि। अथवा अविद्याकामकर्माणि संसारस्य प्रयोजकभूतानि। पूर्वत्र "मोहो मृत्युः संमतः" इत्यनेनाग्रहणान्यथाग्रहणात्मिका अविद्या दर्शिता। उत्तरत्र "कर्मोदय" इति कर्म वक्ष्यति। अथेदानीं

कामोऽभिधीयते—अस्यंते क्षिप्यंते अनेन संसारे प्राणिन इत्यास्यः कामः। अथवा-आस्यवदास्यं सर्वजग्धृत्वात्। तथाचोक्तं भगवता—काम एष क्रोध एष इति। एष मृत्युरास्यात्मना स्थित्वा ततः क्रोधात्मना विपरिणमते। उक्तं च—कामात्क्रोधोऽभिजायत इति। ततोऽहंगतेनाहंकारापन्नेनाज्ञानेनाहंकारफलकारूढेन चिदाभासेन चरन्विमार्गान् न चात्मनो योगमुपैति कश्चित्॥ ७॥

नील० —अस्येति। अस्य यमस्य आदेशादाज्ञातः क्रोधादिरूपो मृत्युर्मरणहेतुर्निःसरति उद्भवति। अत्र यथाऽज्ञानाभिमानिनी देवता यमः एवं क्रोधाद्यभिमानिन्योऽपि देवताः यमस्य दासभूताः सतीत्यधिदैवमर्थः। अध्यात्मंतु अज्ञानादेव क्रोधादय उद्भवन्ति ततो म्रियत इत्यर्थः। ननु यद्यात्मावासमज्ञानं तर्हि तत् आत्मनः पृथक् सिद्धमपृथक् सिद्ध वा? अंत्ये मुक्तानामपि पुनर्बन्धापत्तिः। आद्ये सांख्यप्रकृतिवत्तदनाशापत्तिरित्याशंक्य मृत्युं विशिनष्टि—नराणां अहगतेनैव विमार्गान् चरन्निति। जीवानां योऽहंकारस्तेन सहगतं गमनं अहंकारसाहित्यं तेन विमार्गान् अनात्मगान् मार्गान् चरन् विषयान्भुंजान इत्यर्थः। मुक्तौ अज्ञानाश्रयस्य अहमर्थस्य चिदाभासस्य नष्टत्वात् न शुद्धादात्मनः सकाशादज्ञानं पुनरुदेति, नापि पृथगवतिष्ठत इति भावः। ननु सुषुप्तावहंकारलयेऽपि दृश्यत इत्यत आह—नचेति। तदानीमपि सूक्ष्मस्याहमर्थस्य सत्त्वान्न कश्चित् ज्ञानं विना आत्मयोगमुपैति स्वरूपं प्राप्नोतीत्यर्थः। अतोऽहंकारनाशात्प्राक् आत्मनः क्रोधादिरूपस्य मृत्योरुदयो युज्यत एवेत्यर्थः। आस्यादेष इति पाठे आस्तेऽस्मिन्नित्यास्यमज्ञानस्याधिष्ठानम् अहकारस्तस्मान्निःसरत इति पूर्ववत्॥ ७॥

शब्दार्थः—क्रोधः=क्रोध, प्रमादः=अज्ञान, च=और, मोहरूपः=मोह रूपी, एषः मृत्युः=यह मृत्यु, नाराणां=मनुष्यों के, आस्यात्=अहंकार रूपी मुख से, निःसरते=निकलता है। अतः अहंगते=अहंकार के वश में होकर, एव=ही, विमार्गान्=विपरीत मार्ग का, चरन्=अनुसरण करते हुए, आत्मनः=परमात्मा के, किञ्चित्=थोड़े भी, योग=योग को, न उपैति=नहीं प्राप्त करता है॥ ७॥

सरलार्थः—यह क्रोध रूपी प्रमादस्वरूप एवं मोहरूप में परिणत मृत्यु मनुष्यों के अहंकार रूपी मुख से निकलता है। इस प्रकार प्राणि अहंकारादि के वश में होकर विपरीत आचरण करते हुए परमात्मस्वरूप को थोड़ा-सा भी नहीं प्राप्त करता।

इस श्लोक में भगवान् श्रीसनत्सुजात ने प्रमाद को मृत्यु बताकर उसके अन्य कार्य समूह का वर्णन किया है। अज्ञानवश देहाभिमानी होने के कारण पुरुष अपनी इन्द्रियों के सन्तोषार्थ प्रयत्नशील रहता है। परन्तु जब इच्छाओं की पूर्ति नहीं हो

पाती, तब उसमें क्रोध उत्पन्न होता है और इसी क्रोध से उसका मन उसकी सहजवृत्ति विचलित हो उठती है और वह मोह-अज्ञान के वशीभूत हो जाता है। इसी आशय को गीता में इस प्रकार प्रकट किया गया है:—

"ध्यायतो विषयान्पुंसः संगस्तेषूप जायते ।
संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते ।
क्रोधाद्भवति संमोहः समोहात् स्मृतिविभ्रमः ।
स्मृतिभ्रशात् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणस्यति ।। गीता २ । ६२-६३।।

आचार्य नीलकठ ने पाठभेद के अनुसार भिन्न अर्थ किया है जो टीका के अन्तर्गत द्रष्टव्य है ।। ७ ।।

किंच—

ते मोहितास्तद्वशे वर्त्तमाना अतः प्रेतास्तत्र पुनः पतन्ति ।
ततस्तं देवा अनुपरिप्लवन्ते अतो मृत्युं मरणादभ्युपैति ।। ८ ।।

शा० भा०—त इति । ते अहंकारादिरूपेण स्थितेनाज्ञानेन मोहिताः देहाद्यात्मभावमापादिताः । तद्वशे अहंकाराद्यात्मना परिणतप्रमादाख्यमृत्युवशे वर्त्तमानाः अतोऽस्मात्प्रेताः धूमादिमार्गेण गत्वा तत्र परलोके यावत्संपातमुषित्वा पुनराकाशादिक्रमेण देहग्रहणाय निपतन्ति । श्रूयते च–"तस्मिन् यावत्संपातमुषित्वाऽथैनमेवाध्वानं पुनर्निवर्त्तन्ते" । ततोऽनंतरं पुनर्देहग्रहणावस्थायां तं देवा इन्द्रियाण्यनुसृत्य कर्माणि परि समंतात्प्लवन्ते समंततः परिवर्त्तन्त इत्यर्थः । अतोऽस्मात्कारणादिंद्रियगुणानुसरणान्मरणं याति । ततो मरणाज्जन्माभ्युपैति ततो मृत्युम् । एवं जन्ममरणप्रबंधारूढो न कदाचिन्मुच्यत इत्यर्थः । आत्माज्ञाननिमित्तत्वात्संसारस्य यावत्परमात्मानमात्मत्वेन साक्षान्न जानाति तावदयं तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागद्वेषादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणो मोमुह्यमानोऽवतिष्ठत इत्यर्थः ।। ८ ।।

नील०—आत्मयोगाभावे दोषमाह—त इति । ते नराः मोहिताः क्रोधादिभिरिति शेषः । तद्वशे क्रोधादिरूपस्य मृत्योर्वशे वर्तमानाः संतः इतोऽस्माल्लोकात् प्रेताः गताः संतः तत्र यमलोके पुनरित्यसकृद्गमनसूचनार्थं पतंति गच्छंति, नरकादाविति शेषः । ततस्तान् तत्र गतान् अनुदेवा इंद्रियाणि प्लवंते तत्रैव गच्छंति । "तमुत्क्रामतं प्राणोऽनूत्क्रामति प्राणमनूत्क्रामंत सर्वे प्राणा अनुत्क्रामंति" इति श्रुतेः । मृङ् प्राणत्यागे इत्यनुशासनाच्च मृत्युरज्ञानं मरणसंज्ञामपि लभते । अयंभावः—"मृत्युरत्यंतविस्मृतिः" इति स्मृतेरज्ञानं प्रत्यगानंदविस्मारकत्वेन, यमश्च प्रत्यक्त्वेन

गृहीतस्य देहस्य च विस्मारकत्वेन साम्यात् द्वयमपि मृत्युशब्दितं, तथाच मुख्यो मृत्यु रज्ञान गौणो यम इति ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—ते= वे साधारण मनुष्य, मोहितः=कामादि मोहित होकर, तद्वशे= उसके वश में, वर्तमान=रहते हुए, इतः=इस लोक से, प्रेतः=मर कर पुनः, तत्र= उसी आवागमन चक्र में, पतन्ति=गिरते हैं। ततः=वहाँ से, तम्=उस जीव को, देवाः=प्राणादि देवता भी, अनुपरिप्लवन्ते=भटकाते रहते हैं। अतः=इस प्रकार के क्रम से, मरणाद्=मरणोपरान्त (पुनः जन्म लेकर) मृत्युं=मृत्यु को, अभ्युपैति= प्राप्त होता है ॥ ८ ॥

सरलार्थः—कामादि से मोहित होकर अर्थात् उनकी क्षणिक रमणीय पदार्थों में अनुरक्त होकर उसी में ही तृप्ति को मानते हुए सामान्य जन इस लोक से मृत्यु को प्राप्त होकर पुनः उसी जीवन चक्र में आकर फँस जाते हैं। मृत्यु के अनन्तर उस जीव के साथ मन इन्द्रिय और प्राण आदि भी पीछे-पीछे जाते हैं। इस भाँति कामवासना के क्रम से मनुष्य मृत्यु के बाद पुनः जन्म लेता है और फिर मृत्यु को प्राप्त होता है।

इस प्रकार वह जन्म-मरण रूप संसार चक्र में फँस कर कभी भी मुक्ति को प्राप्त नहीं होता। अतः प्रमाद स्वरूप अज्ञान अर्थात् मिथ्या ज्ञान के निवृत्त होने पर ही संसार से मुक्ति सम्भव है—ऐसा सनत्सुजात का तात्पर्य है ॥ ८ ॥

एवं तावदविद्याकामयोर्बंधहेतुत्वमभिहितम्। अथेदानीं कर्मणां बंधहेतुत्व-माह—

कर्मोदये कर्मफलानुरागास्तत्रानुयान्ति न तरन्ति मृत्युम्।
सदर्थयोगानवगमात्समन्तात् प्रवर्तते भोगयोगेन देही ॥ ९ ॥

शा० भा०—कर्मेति। अमृत्युः कर्मणा केचिदिति कर्मणाऽमृतत्वं भवतीति यन्मतान्तरमुपन्यस्तं तन्निराकरोति—न केवलं कर्मणा अमृतत्वं भवति अपितु कर्मोदये कर्मणामुत्पत्तौ कर्मफलानुरागाः संतस्तत्र तस्मिन्कर्मफलेऽनुयान्ति। यस्मात्तत्रैवानुयान्ति अतो न तरन्ति मृत्युं पुनः पुनर्जन्ममरणात्मके संसारे परि-वर्तन्त इत्यर्थः। कस्मात्पुनः कर्मोदये कर्मफलानुरागास्तत्रैव परिवर्तन्ते ? सदर्थ-योगानवगमात्। सदर्थेन योगः सदर्थयोगः परमात्मना योगस्तस्य सदर्थयोगस्य एकत्वस्यानवगमात् स्वात्मनश्चिदानंदाद्वितीयब्रह्मभावानवगमादित्यर्थः। समंता-त्समंततः प्रवर्त्तते भोगयोगेन विषयरसबुद्ध्या देही, यथा अन्धो निम्नोन्नतकंटक-स्थलादिषु परिभ्रमति एवमसावपि विवेकहीनः सर्वत्र विषयाकांक्षया परि-भ्रमति ॥ ९ ॥

नील०—ननु प्राङ्मरणान्मृत्युभयं. मृतस्य तु कृतकृत्यतैवास्तीत्याशंक्याह—कर्मोदय इति । भोगप्रदस्य कर्मण उदये सति कर्मफलभोगेऽनुरागो येषां ते तथाभूताः तत्र स्वर्गादौ अनुयान्ति भोगवासनया पूर्वदेहं त्यक्त्वा गच्छन्ति अतो मृत्युं न तरन्ति देहनाशमात्रेण न मुच्यन्त इत्यर्थः। तथाच श्रुतिः "येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्येऽस्तीत्येके नायमस्तीति चैके" इति मृतस्यास्तित्वनास्तित्वे उपक्षिप्य 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वाय देहिनः । स्थाणुमन्येऽनुसंयान्ति यथाकर्म यथाश्रुतम्' इति । "अस्तीत्येवोपलब्धव्यः" इति चास्तित्वं देहान्तरप्राप्तिं चाह । अत्र हेतुः—सदर्थेति । सत् ब्रह्म तत्प्राप्त्यर्थो योगः यमाद्यष्टाङ्गोपेतः तस्यानवगमाद्वलाभात्समन्तात् ऊर्ध्वाधस्तिर्यग्योनिषु भोगयोगेन भोगलिप्सया देही देहाभिमानी प्रवर्तते ॥ ६ ॥

शब्दार्थः— कर्मोदये=कर्म के प्रारम्भ होने पर, कर्मफलानुरागाः=कर्मों के फल के प्रति आसक्त होकर, तत्र=उसी फल की कामना में, अनुयान्ति=प्रवृत्त हो जाते हैं । अतः, मृत्युम्=मृत्यु को, न तरन्ति=पार नहीं पाते । एवं=इस प्रकार, सदर्थयोगानवगमात्=सत् वस्तु के योग का ज्ञान न होने से, भोगयोगेन=भोग के संसर्ग द्वारा, देही=जीवात्मा, समन्तात्=चारों तरफ, प्रवर्तते=प्रवृत्त होता रहता है ॥६॥

सरलार्थः — प्रारब्ध कर्म का उदय होने पर, कर्म फल में ही आसक्ति रखने वाले लोग देहत्याग करने पर परलोक का अनुगमन करते हैं । इसी कारण वे मृत्यु से तर नहीं सकते । देहाभिमानी जीव सत् अर्थात् परमात्मतत्त्व के साक्षात्कार का उपाय न जानने के कारण विषयों के उपभोग के कारण नाना प्रकार की योनियों में भटकता रहता है ।

इससे पूर्व "अमृत्युः कर्मणा" इत्यादि जो कहा था—इसका निराकरण प्रस्तुत श्लोक द्वारा करते हैं । उसका कारण यह है कि जब कर्मों का प्रारम्भ होता है तब उसी की उसमें लिप्सा बनी रहती है, कर्म फल की आसक्ति से ही वह जन्म-मरण रूप संसार चक्र में गिरता रहता है । श्रुति कहती है—"न कर्मणा न प्रजया त्यागेनैकेन अमृतत्त्वमाहुः" । तात्पर्य यह है कि कर्मफल की अनासक्ति होने पर ही कर्मों में प्रवृत्ति रुक सकती है तभी मुक्ति सम्भव है ॥ ६ ॥

किञ्च—

तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां मिथ्यार्थयोगेऽस्य गतिर्हि नित्या ।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात् ॥१०॥

शा० भा०—तदिति । यद्रागाभिभूतस्य इन्द्रियाणां विषयेषु प्रवर्तनं तन्महामोहनम् । एतदुक्तं भवति—यस्य विषयेषु न वास्तवबुद्धिस्तस्येन्द्रियाणि विषयेषु न प्रवर्तन्ते । तस्य विषयेषु प्रवृत्त्यभावाद् आत्मन्येव प्रवृत्तिः, ततश्च मोहनिवृत्तिः ।

यस्य विषयेषु वास्तवबुद्धिस्तस्येन्द्रियाणां पराग्भूतेषु विषयेषु प्रवृत्तत्वान्न स इ सदद्वितीयं प्रत्यग्भूतं परमात्मानमात्मत्वेन साक्षाज्जानाति। तथाचोक्तम्--"स्त्री पिण्डसंपर्ककलुषितचेतसो विषयविषान्धाः ब्रह्म न जानन्ति" इति। ततश्च मह मोहेन पुनः पुनर्विषयेषु प्रवृत्तिः। तथाचाह मनुः-"न जातु कामः कामानामुप भोगेन शाम्यति" इति। ततश्च मिथ्यार्थैरविद्याकल्पितैः शब्दादिविषयैर्यो भवति तस्मिन्मिथ्यार्थयोगे अस्य देहिनो गतिः संसारगतिर्नित्या नियता। प्रसि ह्येतत्-स्वात्मभूतं परमात्मानमनवगम्य विषयेषु प्रवर्तमानाः पराग्भूतास्तिर्यग दियोनिं प्राप्नुवन्तीति। तथाच बह्वृचब्राह्मणोपनिषदि-या वैता इमाः प्रजायन्त इति। वक्ष्यति च-कामानुसारी पुरुषः कामाननु विनश्यतीति। कस्मात्पुनर्मिथ्या र्थयुक्तस्य गतिर्हि नित्येति तत्राह-मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा मिथ्याभूतविषय संयोगेनाभिहतान्तरात्मा यस्य सः अभिहतस्वाभाविकब्रह्मभावः स्मरन् शब्दादि विषयान् तानेवोपास्ते न परमात्मानं समन्तात् समन्ततः॥ १०॥

नील०--भोगमेव निंदति-तद्वा इति। यत अस्य पुंसः मिथ्याभूतेषु अर्थेषु शब्दा दिविषयेषु योगो रागस्तदर्थं गतिः प्रवृत्तिः नित्या स्वाभाविकी तदेव इन्द्रियाण महामोहनम् अर्थानां मिथ्यात्वं संकल्पकृतत्वात् यदाहाक्षपादः-"दोषनिमित्तं रूपा दयो विषयाः संकल्पकृताः" इति। दोषो रागादिः मिथ्यार्थयोगेन विषयसंगेन अभि हतान्तरात्मा व्यथितचित्तः सन् विषयान्स्मरन् स्मरणपूर्वकम् उपास्ते हेतौ शतृप्रत्यय स्मरणमेव विषयोपासनाहेतुस्तस्तेषां विस्मरणमेव कर्तव्यमित्यर्थः॥ १०॥

शब्दार्थः--तत्=वह, भोग=योग, वै=वस्तुतः, इन्द्रियाणाम्=इन्द्रियों का, महा मोहनं=महाभ्रम है, हि=क्योंकि, अस्य=इस प्राणी की, मिथ्यार्थयोगे=मिथ्या विषय में, गतिः नित्या=निरन्तर प्रवृत्ति बनी रहती है। मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा=मिथ्या विषयों के योग से घायल प्राणी, समन्तात्=चारों तरफ, विषयान्=विषयों को ही स्मरन्=ढूंढता हुआ, उपास्ते=तल्लीन रहता है॥ १०॥

सरलार्थः--वही कर्मफलकी आसक्ति इन्द्रियों का महामोहन है, अर्थात् इन्द्रि को अत्यन्त विमोहित करके सदा विषयों में प्रवृत्त करती है। और इन मिथ्या विषयों में अनुरागी पुरुष की उनके प्रति स्वाभाविक प्रवृत्ति होती है। इन मिथ्या वस्तुओं के प्रति आसक्त होने के कारण ज्ञानशक्ति से नष्ट हुआ प्राणी चारों ओ विषयों का ही स्मरण करता हुआ उसी में ही तल्लीन रहता है।

कर्मफल के प्रति आसक्ति होने से इन्द्रियां विषय भोगों में तल्लीन रहती हैं विषयों के प्रति निवृत्ति होने पर ही सत्-आत्मा में प्रवृत्ति होती है और आत्मज्ञा होने पर मोह की निवृत्ति हो जाती है। स्त्री,पुत्र, बन्धु-बांधव आदि में मोह कारण जिसका चित्त वशीभूत है वह सदैव उन मिथ्या भोगों में ही आसक्त

रहता है, इसी बात को 'कामानुसारी पुरुषः कामाननुविनश्यति' आदि द्वारा आगे कहा गया है। इसी आशय को महाकवि कालिदास ने भी सूत्र रूप में प्रगट किया है। 'कामी स्वतां पश्यति'॥ १०॥

ततः किमिति चेत्तत्र यद्भवति तच्छृणु—

अभिध्या वै प्रथमं हन्ति चैनं कामक्रोधौ गृह्य चैनं च पश्चात्।
एतान्बालान् मृत्यवे प्रापयन्ति धीरास्तु धैर्येण तरन्ति मृत्युम्॥११॥

शा० भा०—अभिध्या विषयध्यानं प्रथमं हन्ति विनाशयति स्वरूपात्प्रच्युतं करोति, ततो विषयध्यानाभिहितमेनं विषयरससन्निधौ शीघ्रं प्रतिगृह्य कामश्च हन्ति। ततः कामाभिहतमेनं प्रतिगृह्य क्रोधश्च हन्ति। तदेतेऽभिध्यादय एतानभिध्याकामक्रोधवशंगतान्बालानविवेकिनो मूढान्मृत्यवे प्रापयन्ति क्षिपन्ति। श्रूयते कठवल्लीषु-पराचः कामानिति। धीरास्तु पुनर्धैर्येण विषयान्जित्वा परमात्मानमात्मत्वेनावगम्य तरन्ति मृत्युम्। श्रूयते च-निचाय्य तं मृत्युमुखाद्विति॥ ११॥

नील०—तत्स्मरणे दोषमाह-अभिध्येति अभिध्या विषयस्मरणं प्रथम ततः कामस्तत्प्राप्त्यभिलाषः केनचिन्निमित्तेनतत्प्रतिहतौ क्रोधः एते अभिध्यादयः एवं क्रमेण बालान् अजितचित्तान् मृत्यवे मोहाय प्रापयंति। येतु धीराः जितचित्ताः निष्कामास्ते मृत्युं तरन्ति पाठान्तरे धर्मं योगाभ्यास चरन्ति॥ ११॥

शब्दार्थः—प्रथम=पहले तो, एनं=इसको, अभिध्या=विषय-स्मरण, वै=ही, च=और, पश्चात्=उसके बाद, एनं=इस जीव को, काम क्रोधौ=काम और क्रोध, गृह्य=पकड़कर हन्ति=नष्ट कर देते हैं, च=और पुनः, एतान्=इन, बालान्=मन्द बुद्धि वालों को, मृत्यवे=मृत्यु के समीप, प्रापयन्ति=पहुँचा देते हैं, तु=किन्तु, धीराः=धीर पुरुष, धैर्येण=धीरता से, मृत्युं=मृत्यु को, तरन्ति=पार कर जाता है॥११॥

सरलार्थः—सर्व प्रथम तो विषयों का चिन्तन ही लोगों का विनाश कर देता है। इसके अनन्तर वह काम और क्रोध दोनों को साथ लेकर शीघ्र ही उस पर आक्रमण करता है। ये विशेष चिन्तन ही काम-क्रोधादि से मोहित हुए अविवेकी पुरुषों को मृत्यु के समीप पहुँचा देता है। परंतु जो धीर पुरुष है, अर्थात् जो विषयाशक्ति से शून्य हैं वे मृत्यु को पार कर जाते हैं॥ ११॥

कथं पुनर्धीरास्तु धैर्येण विषयान् जित्वा मृत्युं तरन्तीत्यत आह—

योऽभिध्यायन्नुत्पतिष्णून्निहन्यात् अनाचारेणाप्रतिबुध्यमानः।
स वै मृत्युं मृत्युरिवात्ति भूत्वा ह्येवं विद्वान् योऽभिहन्तीह कामना।१२।

शा० भा०—य इति। योऽभिध्यायन् अनित्याशुचिदुःखानुविद्धतया उत्प[illegible]ष्णून् उत्पत्योत्पत्य पतन्तीत्युत्पतिष्णवो विषयास्तान्निहन्यात् परित्यजेत्। अ[illegible]चारेण अनादरेण अमेध्यदर्शन इव अप्रतिबुध्यमानः पुनः पुनरचिन्तयन् स[illegible] पुरुषो मृत्योरेव मृत्युर्भूत्वा मृत्युरिवात्ति मृत्युम्। उक्तं च–विषयप्रतिसंहारं[illegible] करोति विवेकतः। मृत्योर्मृत्युरिति ख्यातः स विद्वानात्मवित्कविरिति ॥ १२॥

नील०—य इति। यः मृत्युतरणकामः योगी वा अभिध्यायन् आत्मान चिन्त[illegible] उत्पतितान् कामानेव निहन्यात् हननोपायमाह–अनादरेण तुच्छत्वबुध्या पथिप[illegible] तृणवत् स्त्र्यादीन् प्राप्तानपि अप्रतिबुद्ध्यमानः अचिन्तयन् य एव विद्वान् [illegible] कामान्निर्हन्ति एनं पुरुषं मृत्युरज्ञानं मृत्युरिव यम इव नात्ति न ग्रसते निष्का[illegible] मृत्युभयं नास्तीत्यर्थः ॥ १२॥

शब्दार्थः--यः=जो बुद्धिमान्, अभिध्यायन्=विचार करता हुआ. उत्पति[illegible] आगमापायी विषयों को, निहन्यात्=छोड़ देता है तथा, अनाचारेण=आदर के [illegible] अप्रतिबुध्यमानः=स्मरण न करता हुआ, यः=जो, विद्वान=विद्वान, एवं=इस [illegible] इह=इस संसार में ही, कामान्=कामों को, अभिहन्ति=नष्ट कर देता है, स[illegible] वै=हकीकत में, मृत्युरिव=मृत्यु के समान, भूत्वा=होकर, मृत्युं=मृत्यु को ही, [illegible]खा जाता है ॥१२॥

सरलार्थः—पूर्व श्लोक में यह कहा गया है कि धीर पुरुष मृत्यु से तर जाते [illegible] वह कैसे ? इस जिज्ञासा पर कहते हैं कि जो भी पुरुष मृत्यु को पार करने की इ[illegible] करता है वह परमात्मा का चिन्तन करते हुए शीघ्र ही आकर गिरनेवाले उन वि[illegible] को नष्ट कर दें अर्थात् उन्हें छोड़ दें। वह उन विषयों के प्रति अनादर करते [illegible] अर्थात् उनकी ओर तनिक भी न देखते हुए सर्वथा विचारशून्य होते हुए उन्हें [illegible] दें। इस प्रकार जो विद्वान धैर्य पूर्वक इन कामनाओं का हनन करता है उ[illegible] अविवेकी पुरुष की तरह मृत्यु के समान मृत्यु नहीं मारती। तात्पर्य यह है कि आ[illegible] ज्ञान द्वारा अज्ञान की निवृत्ति हो जाने से विवेकी पुरुष के लिए यम के समान [illegible] मृत्यु अपना ग्रास नहीं बनाती। आशय है कि वह जन्म-मरण के चक्र से छूट[illegible] है। जब तक जीव की देह में आसक्ति है, तभी तक मृत्यु का आक्रमण होता [illegible] और शरीराध्यास से मुक्त हो जाने पर जीव को अमरत्व की प्राप्ति हो जाती है। [illegible] भी इसी आशय को प्रकट करती है—

शरीरं वाव सन्तं न प्रिया प्रिये स्पृशतः। भगवान् सनत्सुजात ने इन भोगों [illegible] उत्पतिष्णु कहा है। वे समस्त विषय जात बार-बार उत्पन्न होकर विविध रू[illegible] जीव को बाँध लेते हैं। अतः इस अज्ञानावरण से पृथक शाश्वत सुख की खोज [illegible] चाहिए ॥१२॥

एवमनित्यादिरूपेण विद्वान्सन् अनादरादिना अभिहन्ति कामान् । यः पुनरनादरादिना नाभिहन्ति स किं करोतीत्याह—

कामानुसारी पुरुषः कामाननुविनश्यति ।
कामान् व्युदस्य धुनुते यत्किंचित्पुरुषो रजः ॥ १३ ॥

शा० भा०—कामेति । यस्तु पुनर्विषयाभिध्यानेन कामानुसारी भवति स कामाननु विनश्यति कामविषये नष्टे कामाननु कामैः सह विनश्यति । अनित्याः कामगणाः प्रतिक्षणं विनाशान्विताः, तद्वत्कामी विशीर्णो भवति । यस्तु पुनर्विषयदोषदर्शनेन कामान्परित्यजति स कामान् व्युदस्य परित्यज्य विवेकबुध्या धुनुते ध्वंसयति । यत्किंचिदिह जन्मनि जन्मान्तरे च उपार्जितं रजः पुण्यपापादिलक्षणं कर्म ॥ १३ ॥

नील०—सकाम निर्दति-कामानुसारीति । विषयार्थी विषयमनुविनश्यति । यथोक्तं—कुरंगमातंगपतगभृंगमीना हताः पञ्चभिरेव पंचेति । फलितमाह- कामानिति । विषयास्त्यक्त्वा रजो दुःखरूपं यत्किञ्चित् सर्वं धुनुते नाशयति ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—कामानुसारी=भोगों का अनुगमन करने वाला पुरुष, कामान्=इच्छाओं को, अनु =साथ-साथ, विनश्यति=नष्ट हो जाता है । परन्तु जो पुरुषः=विवेकी पुरुष, कामान्=कामनाओं को, व्युदस्य=त्याग करके, यत्किञ्चित=जो कुछ रजः—पुण्य-पापरूप कर्म को, धुनुते=धो डालता है ॥१३॥

सरलार्थः—कामनाओं के पीछे चलनेवाला अर्थात् विषयों में आसक्त पुरुष उन भोगों के साथ ही नष्ट हो जाता है परन्तु विवेकी पुरुष इच्छाओं का त्याग करके जो कुछ भी अवशिष्ट पुण्य-पापरूप कर्म हैं, उन्हें धो डालता है ।

तात्पर्य है कि जैसे-जैसे वासानाओं का अन्त हाता जाता है, वैसे ही वैसे आत्मा में स्वतः प्रकाश फैलने लगता है । उससे अज्ञानजनित सम्पूर्ण अन्धकार विनष्ट हो जाता है और विद्वान् ब्रह्मस्वरूप हो जाता है । इसी तथ्य को प्रकट करने वाला यह श्लोक भागवत से उधृत है—

विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित्
धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः ॥१३॥

कथं पुनरस्य देहस्य काम्यमानस्य हेयत्वमित्याह—

देहोऽप्रकाशो भूतानां नरकोऽयं प्रदृश्यते ।
गृध्यन्त एव धावन्ति गच्छन्तः श्वभ्रमुन्मुखाः ॥१४॥

शा० भा०—देह इति । योऽयं भूतानां देहो दृश्यते सः अप्रकाशः अविद्यया कल्प्यमानः केवलं नरकः श्लेष्मासृक्पूयविण्मूत्रकृमिपूर्णत्वात् । तथाचाह मनुः—

अस्थिस्थूणं स्नायुबद्धं मांसक्षतजलेपनम् ।
चर्मावनद्धं दुर्गंधि पूर्णं मूत्रपुरीषयोः ॥ १ ॥
जराशोकसमाविष्टं रोगायतनमातुरम् ।
रजस्वलमनित्यं च भूतावासमिमं त्यजेत् इति ॥ २ ॥

एवमत्यन्तबीभत्सितं स्त्र्यादिदेहं कमनीयबुध्या गृध्यन्तोऽभिकांक्षन्त एव धावन्तिं अनुधावन्ति । गच्छन्तः श्वभ्रमुन्मुखाः यथा अन्धः कूपादिकं विवेक्तुमशक्ताः कूपादिषून्मुखाः पतन्ति एवं स्त्र्याद्यभिकांक्षन्तो विषयविषान्धाः उन्मुखाः पतन्ति नरकेष्वित्यर्थः ॥ १४ ॥

नील०—विपक्षे दोषमाह–देह इति । अयं कामः भूतानां तमः अज्ञानं तत्कार्यकरत्वात् यतः अप्रकाशो नास्ति प्रकाशो विषयविवेको यस्मिन्स तथा अत एव नरकवद्दुःखदः । एतदेवाह–मुह्यन्ते इति । यथा मुह्यन्तो मदिरामत्ताः । गृभ्रन्त इति पाठे ग्रहगृहीताः पथिगच्छन्तः । श्वभ्रवत् गर्तयुक्तं देशं धावन्ति, तथा कामिनः संसारे वर्तमानाः सुखं सुखप्रदं भार्यादि प्रति धावन्तीत्यर्थः ॥ १४ ॥

शब्दार्थः – भूतानाम्=मनुष्यों का, अयम्=यह, देह=शरीर, अप्रकाशः=जड़, तथा नरकः=नरकतुल्य दुःखप्रद, प्रदृश्यते=दिखाई पड़ता है, अतः श्वभ्रम्=गड्ढे की ओर उन्मुखाः=मुख करके, गच्छन्तः=जाने वाले, गृध्यन्तः=लोलुप जन, एव=ही धावन्ति=स्त्री, देहादि विषयों की ओर भागते हैं ॥१४॥

सरलार्थः— प्राणियों का यह शरीर वस्तुतः जड़स्वरूप और नरक के समान कष्टप्रद है। अविवेकी पुरुष उसी में आसक्तचित्त होते हुए उसी में ही रमण करते हैं अर्थात् उन्हीं भोगों की ओर लोलुप होकर दौड़ते हैं, जैसे कि अन्धा पुरुष गड्ढे की ओर उन्मुख होकर दौड़ते हुए स्वयं को नष्ट कर देता है।

'गृध्यन्त एव' के स्थान पर 'मुह्यन्त इव' पाठ होने पर अर्थ होगा— जैसे मदिरापान से उन्मत्त पुरुष चलते-चलते गड्ढ की ओर दौड़ पड़ते हैं वैसे ही कामी पुरुष भोगों में ही सुख मानकर उनकी ओर दौड़ते हैं। देह को नरक तुल्य बताने का कारण यह है कि यह देह कर्मजनित एवं कफ, रक्त पूय, मूत्र, कृमि आदि का संघातरूप ही है। इस विषय में भगवत्पाद शंकराचार्य का भाष्य द्रष्टव्य है ॥१४॥

य एवं गृध्यन्त एव धावन्ति तेषां देहो निरर्थक इत्याह—

अमन्यमानः क्षत्रिय कंचिदन्य नाधीयते तार्ण इवास्य व्याघ्रः ।
क्रोधाल्लोभान्मोहभयान्तरात्मा स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः ।५।

शा० भा०—अमन्यमान इति । यस्त्र्यादिकमभिकांक्षन् अनुधावति स विषयविषान्धस्तद्व्यतिरिक्तं स्वात्मभूतं परमात्मानममन्यमानोऽप्रतिबुध्यमानो नाधीद

यते तद्विषयमध्यात्मशास्त्रं नाधिगच्छति । तस्यास्य विषयविषान्धस्य षडंगवेदविदुषोऽपि देहस्तृणनिर्मितव्याघ्र इव निरर्थको भवति । तथाचाह भगवान्वसिष्ठः—चतुर्वेदोऽपि यो विप्रः सूक्ष्मं ब्रह्म न विंदति । वेदभारभराक्रांतः स वै ब्राह्मणगर्दभः इति । न केवलं देहो निरर्थकः—य एवंभूतः स एव मृत्युरित्याह—क्रोधाल्लोभान्मोहभयांतरात्मा इति । क्रोधलोभाभ्या हेतुभ्यां मोहभयसमन्वितः अन्तरात्मा त्वच्छरीरे य एष तव आत्मा दृश्यते स एव तव मृत्युः । यः पुनरजितेंद्रियः क्रोधलोभादिसमन्वितो विषयेषु प्रवर्तते स एव तस्य मृत्युः विनाशहेतुत्वात् । उक्तंच—आत्मैव ह्यात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मन इति ॥ १५ ॥

नील०—अमन्यमानमिति । अमूढवृत्तेः कामेनानभिभूतचित्तस्य पुंसस्तु तृणमयव्याघ्रवत् मृत्युर्यमः किं कुर्यान्न किमपीत्यर्थः । यस्मादेवं तस्मात् अस्य कामस्य आयुः जीवनं मूलाज्ञान निर्णुदन् अपनेष्यन् अन्यत् किंचित् काम्यमानं स्त्र्यादिकं अमन्यमानः अगणयन् नाधीयीत न स्मरेत् तुच्छत्वबुध्याविषयविस्मरणमेव काममूलोच्छेदहेतुरित्यर्थः । यदाह वसिष्ठः—भ्रमस्य जाग्रतस्यास्य जातस्याकाशवर्णवत् । अपुनःस्मरणं मन्ये साधो विस्मरणं वरम् ॥ तथापि तव न स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते इति च ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—क्षत्रिय=हे राजन्, कश्चित्=कोई, अन्यम्=इन विषयों से पृथक् परमात्मा को, अमन्यमानः=स्वीकार न करते हुए, न=नहीं, अधीयते=उसके विषय में चिन्तन नहीं करता है, अस्य=उसका देह, तार्णः=तृण से निर्मित, व्याघ्र इव=व्याघ्र के समान है, क्रोधात्=क्रोध से, लोभात्=लोभवश, मोहभयात्=मोह और भय से युक्त अन्तरात्मा=जो आत्मा है, स=वह, वै=ही, त्वत्=तुम्हारे, शरीरे=शरीर में, यः=जो प्रमाद है, एषः=वही, मृत्युः=मृत्यु है ॥१५॥

सरलार्थः—विषयों के प्रति आसक्त चित्त पुरुष उन्हीं में विमोहित होता हुआ उसके विपरीत किसी अन्य परमात्मतत्त्व की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है । अतः वह परमात्म सम्बन्धी अध्यात्म शास्त्र का भी अध्ययन नहीं करता । उसका शरीर तृण के बने हुए व्याघ्र के समान व्यर्थ ही है । क्रोध, लोभ, मोह एवं भय से आच्छादित हुए शरीर में स्थित अपनी अन्तरात्मा को ही मृत्यु मानता है । अर्थात क्रोधादि से समन्वित उसका देहाभिमानरूप जो प्रमाद अर्थात् अज्ञान है, वही उसकी मृत्यु है, क्यों कि वही उसके विनाश का हेतु है ।

इस श्लोक के अनेक पाठान्तर हैं, तदनुकूल आचार्य नीलकण्ठ की व्याख्या द्रष्टव्य है ॥१५॥

तर्हि केनोपायेन मृत्योर्विनाश इत्याह—

एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः ।
विनश्यते विषये तस्य मृत्युर्मृत्योर्यथा विषयं प्राप्य मर्त्यः ॥१६॥

शा० भा०—एवमिति । एवं क्रोधादिरूपेण जायमानं प्रमादाख्यं मृत्यु जननमरणादिसर्वानर्थबीजं विदित्वा क्रोधादीन् भवदाहीयान्दोषान् परित्यज्य अक्रोधादीन् संपाद्य ज्ञानेन चित्सदानंदाद्वितीयब्रह्मात्मना तिष्ठन्न बिभेति मृत्यो: तथाच श्रुतिः—आनंदं ब्रह्मणो विद्वान्न बिभेति कुतश्चनेति । कस्मात्पुनर्ज्ञानि तिष्ठन्न बिभेति मृत्योरित्याह—विनश्यते तस्य ज्ञानिनो विषये गोचरे परमा त्मनि साक्षात्क्रियमाणे प्रमादाख्योऽज्ञानमृत्युः । यथा मृत्योर्विषयं संसारमाग मृत्युनाऽभिभूतो नष्टो भवति मर्त्यः । एवमात्मवेदिनो विषयमागतो अज्ञानमृ नष्टो भवति । उक्तंच ज्ञानमहोदधौ—ज्ञानसंस्थानसद्भावो ज्ञानाग्निर्ज्ञानवज्रभृत मृत्युं हन्तीतिविख्यातः स वीरो वीतमत्सर इति ॥ १६ ॥

नील०—यमं त्वेके इत्यत्र आत्मावसन्नमिति यमोऽप्यात्मनि कल्पित इत्यु तद्व्याचष्टे—सक्रोधलोभाविति । यस्त्वच्छरीरे एषः अहम्प्रत्ययविषयः अन्तरात्मा बा स्मान शरीरमपेक्ष्य अन्तरः चिदचिद्ग्रन्थिरूपः जीवः स मोहवान् अतस्मिंस्तद्बु मोहः अनात्मनि देहादावात्मबुद्धिर्विपर्ययरूपं ज्ञानं तद्वान् क्रोधलोभमृत्युरूपो भव शुकनलिकान्यायेन स्वयं बन्धहीनोऽपि अज्ञानात्स्वात्मानं बद्धं मन्यते तेन कामादिवश भवतीत्यर्थः । उपसंहरति—एवमिति । जायमानं मोहादिति शेषः । मोहविरोधि ज्ञाने तिष्ठन्निष्ठावान् यमान्न बिभेति । तत्र दृष्टान्तः विषये गोचरे तस्य ज्ञानस्य मृ बंन्धः विनश्यते मृत्योर्यमस्य मर्त्यः देहः अज्ञानकृतो बन्धो ज्ञानेनैव नश्यते न क णेति प्रबद्धकार्थः ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—एवं=इस प्रकार, जायमानम्=उत्पन्न, मृत्युम्=मृत्यु को, विदित्वा जानकर, ज्ञानेन= ज्ञान से, तिष्ठन्=स्थित होता हुआ, मृत्योः मृत्यु से, न= बिभेति=भय करता है, तस्य=उनका, विषये=सामना होने पर, मृत्युः विनश्यते=मृ नष्ट हो जाता है, यथा=जैसे, मृत्योः=मृत्यु के, विषयम्=सन्निधि को, प्राप्य=प्रा करके, मर्त्यः=नष्ट होने वाला प्राणी ॥१६॥

सरलार्थः—इस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, एवं मोहादि जन्य प्रमाद—अज्ञान ही मृत्यु समझ कर अर्थात् शरीराध्यास को ही मृत्यु मानकर ज्ञान द्वारा आ स्वरूप में स्थित होता हुआ वह मृत्यु से भय नहीं करता । क्योंकि 'अहं ब्रह्मा इस ज्ञान के द्वारा आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर शरीराध्यास—अज्ञान से उत्पन्न स्वतः नष्ट हो जाती है, जैसे कि अज्ञानी पुरुष मृत्यु के सान्निध्य से अर्थात् अ जनित मृत्यु से ही नष्ट हो जाता है ॥१६॥

एवं तावत् "कर्मोदय" इत्यादिना कर्मणां बन्धहेतुत्वमुक्त्वा 'ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः' इति ज्ञानस्यैव मोक्षसाधनत्वमभिहितं तत्र चोदयति धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच—

यानेवाहुरिज्यया साधुलोकान् द्विजातीनां पुण्यतमान्सनातनान् ।
तेषां परार्थं कथयन्तीह वेदाः एतद्विद्वान्नैति कथं नु कर्म ॥१७॥

शा० भा०—यानिति । ननु कथं कर्मणां बन्धहेतुत्वं ? यावता यानेवाहुरिज्यया ज्योतिष्ठोमादिना साधुलोकान् साधुभिर्धार्मिकैरारूढान् पुण्यतमान् पवित्रान् सनातनान् नित्यान् । तेषां ब्रह्मलोकपर्यन्तानां परार्थं परमपुरुषार्थत्वं कथयन्ति इह अस्मिन् संसारमण्डले वेदाः । एतत् लोकानां परमपुरुषार्थत्वं विद्वान् कथं नु साधनं कर्म नैति न गच्छति नानुतिष्ठतीत्यर्थः । अथवा, एतत् ब्रह्मलोकपर्यन्तानां लोकानां साधनभूतं कर्म विद्वान् ब्रह्मवित् कथं नैति नानुतिष्ठतीति ॥ १७ ॥

नील०—अत्र शंकते—यानिति । साधु इज्यया सोपासनेन अश्वमेधादिना कर्मणा पुण्यतमान् इंद्रलोकाद्यपेक्षया पुण्यान् सनातनान् व्यवहारापेक्षया नित्यान् लोकान् सत्यलोकाख्यान् इह वेदे आहुः वेदविदः तेषां लोकानां परार्थं परार्थत्वं मोक्षप्रापकत्वं वेदाः कथयन्ति । एतत्कर्मणां क्रममुक्तिहेतुत्वं विद्वान् जानन् कर्म कथं न उपैति न शरणीकरोति । कर्मभिरेव मोक्षसिद्धौ किं ज्ञानेनेति भावः ॥ १७ ॥

शब्दार्थः – द्विजातीनाम्=द्विजों के लिए, इज्यया=यज्ञद्वारा, यान्=जिन, पुण्यतमान्=पुण्यमयों को, सनातनान्=साधु, श्रेष्ठ, लोकान्=लोकों को, आहुः=कहते हैं, वेदाः=वेद, इह=इस संसार में, तेषाम्=उन्हीं की प्राप्ति को, परार्थम्=परम पुरुषार्थ, कथयन्ति=बतलाते हैं तु=तो, फिर; विद्वान=विवेकी जन, कर्म=यज्ञादि कर्म को, कथ-क्यों, न एति=नहीं स्वीकार करते ॥१७॥

सरलार्थः—धृतराष्ट्र बोले—हे भगवन्, द्विजों के लिये यज्ञों द्वारा जिन पवित्रतम सनातन एवं श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति बतायी गयी है, उसी को श्रुति में परम पुरुषार्थ कहा गया है । तो आत्मज्ञानी इन यज्ञादि कर्मों को क्यों स्वीकार नहीं करता ॥१७॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान् सनत्सुजातः—

सनत्सुजात उवाच—

एवं ह्यविद्वानुपयाति तत्र तथाऽर्थजातं च वदन्ति वेदाः ।
स नेह आयाति परं परात्मा प्रयाति मार्गेण निहन्त्यमार्गान् ॥१८॥

शा० भा०—एवमिति । सत्यम् एवमेव ब्रह्मलोकादिसाध्यं सुखं परमार्थं मन्यमानो विषयविषान्धो ह्यविद्वान् उपयाति तत्र तस्मिन् ब्रह्मलोकादिसाधनभूते कर्मणि न विद्वान्, अविद्यादिदोषदर्शनात् । तथा च बृहदारण्यके—

"अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसा वृताः।
तास्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधा जनाः" इति ॥१॥

तथाऽर्थजातं च प्रयोजनजातं च तस्यैवाविदुषो वदन्ति वेदाः। यस्मादविदुष एव वदन्ति न विदुषः, तस्मात् नेह सः विद्वान् ब्रह्मलोकाद्यनित्यसुखे तत्साधने वा कर्मणि आयाति प्रवर्तते। किं तर्हि कुरुते? तत्राह—परमात्मानमात्मत्वेनावगम्य परात्मा सन् ब्रह्मैव सन् परं प्रयाति। मार्गेण निहन्ति अमार्गान् संसारहेतुभूतानात्मनो विरुद्धमार्गान् धर्माधर्मोपासनारूपान्। अथवा, "एवं हि विद्वानुपयाति तत्र" इति पाठे सगुणब्रह्मविद्वान् तत्र ब्रह्मलोकादावुपासनाफलमुपयाति प्राप्नोति। तथाऽर्थजातं च अस्य वदन्ति वेदाः। कीदृशं वदन्ति? सः विद्वान् इह अस्मिन् लोके कर्मीव नायाति न जायते, किन्तु मार्गेण ब्रह्मोपासनया अमार्गान् विरुद्धमार्गान् निहन्ति। एवं तत्र गत्वा संसारहेतून् अमार्गान् निहत्य परात्मा ब्रह्मात्मा सन् कालेन परं ब्रह्म प्रयातीत्यर्थः॥ १८॥

नील०—समाधत्ते—एवमिति। अविद्वानेवं त्वदुक्तक्रमेण तत्र मोक्षपदे उपयाति, तथैव अर्थजातं भोगमोक्षाख्यं प्रयोजनसामान्यं वेदाः वदन्ति। तथा अनीहो निष्कामः परात्मा परं अनात्मानं देहादिकम् अविद्यया आत्मत्वेन गृह्णन् जीवः परं निर्गुणात्मानं आयाति आभिमुख्येन प्राप्नोति, निष्कामः तत्तदुपाध्याकारतां त्यक्त्वा निष्कलेन रूपेणावतिष्ठत "इत्यर्थः। अन्यथातु, स एव जीवः मार्गेण सुषुम्नानाड्या मार्गान् तत्तल्लोकप्रापकान् निहत्य निरस्य ब्रह्मलोकद्वारा परं प्रयाति। "तयोर्ध्वमायन्नमृतत्वमेति" इति श्रुतेः। तथाच बृहदारण्यके—"तद्यथा पेशस्कारी पेशसा मात्रामुपादायान्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते, एवमेवेदं शरीरं निहत्य विद्यां गमयित्वाऽन्यन्नवतरं कल्याणतरं रूपं कुरुते पित्र्यं वा प्राजापत्यं वा ब्राह्मं वेति" इति तु कामयमानोऽथाकामयमानो योऽकामो निष्कामः आप्तकामः स्यात्" "न तस्य प्राणाउत्क्रामंत्यत्रैव समवनीयन्ते" इति कामयमानस्य अस्माद्देहादुत्क्रान्तस्य देहं मरणेनासद्रूपत्वं नयतःस्वर्णकारदृष्टान्तेन पित्र्यगान्धर्वादिरूपान्तरकर्तृत्वमुक्त्वा, निष्कामस्यपूर्णब्रह्मभावं गतस्य उत्क्रान्तिर्निषिध्यते॥ १८॥

शब्दार्थः—एवं हि=इस प्रकार ही, अविद्वान्=अविवेकी, तत्र=उस साधन में, उपयाति=जाता है, च=और, तथा=उस प्रकार से, वेदाः=वेद, अर्थजातम्=उसके प्रयोजन भी, वदन्ति=बताते हैं, स=ज्ञानी पुरुष, परात्मा=परात्म रूप होकर, इह=इस साधन में, न आयाति=नहीं आता है। वह, मार्गेण=ज्ञानमार्ग द्वारा, अमार्गान्=ज्ञान विरुद्ध कर्म मार्ग को, निहन्ति=बाधित करके, परं=परब्रह्म को, प्रयाति=प्राप्त कर लेता है॥ १८॥

सरलार्थः—भगवान् सनत्सुजात ने कहा—हे राजन्, श्रुतियों में यज्ञादि कर्म द्वारा परमलोक की प्राप्ति कही गयी है, वह मार्ग सांसारिक जड़ पदार्थों में अनुरक्त लोगों के लिए ही बताया गया है। कारण, वे मोहवश आत्मतत्त्व को साक्षात् करने में असमर्थ होते हैं। तात्पर्य यह है कि यदि श्रुति में श्रेष्ठ लोकों की प्राप्ति को ही परम पुरुषार्थ बताया है तो वह उन्हीं अज्ञानी पुरुषों की दृष्टि से ही कहा गया है। परन्तु जो निष्काम पुरुष है वह ज्ञान मार्ग के द्वारा अन्य सभी मार्गों की उपेक्षा करके परमात्मस्वरूप होता हुआ परब्रह्म को प्राप्त कर लेता है ॥ १८ ॥

गीता भी इन दो भिन्न-भिन्न मार्गों का अनुसन्धान करती है—ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् (गी० ३।३)।

एवं तावत्प्रमादाख्यस्याज्ञानस्य मृत्युत्वम् अप्रमादस्य स्वरूपावस्थानलक्षणस्यामृतत्वम् "प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि" इत्यादिना दर्शयित्वा "आस्यादेष निःसरते नराणाम्" इत्यादिना "स वै मृत्युस्त्वच्छरीरे य एषः" इत्यन्तेनतस्य च कार्यात्मना परिणतस्य सर्वानर्थहेतुत्वं प्रदर्शयित्वा, कथमस्य मृत्योर्विनाशः इत्याशङ्क्य, "एवं मृत्युं जायमानं विदित्वा ज्ञानेन तिष्ठन्न बिभेति मृत्योः" इति आत्मज्ञानेन मृत्युविनाशं दर्शयित्वा "यानेवाहुरिज्यया" इत्यादिना ब्रह्मलोकादेः पुरुषार्थत्वमाशङ्क्य "एवं ह्यविद्वान्" इत्यादिना तेषामविद्यावद्विषयत्वेनापुरुषार्थत्वमुक्त्वा, "परं परात्मा प्रयाति मार्गेण" इति ज्ञानमार्गेण मोक्षः उपदिष्टः। तत्र "परं परात्मा प्रयाति" इति जीवपरयोरेकत्वमुक्तम्। तदसहमानश्चोदयति धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच—

कोऽसौ नियुंक्ते तमजं पुराणं स चेदिदं सर्वमनुक्रमेण।
किं वाऽस्य कार्यमथवाऽसुखं च तन्मे विद्वन् ब्रूहि सर्वं यथावत् ॥१९॥

शा० भा०—कोऽसाविति। ननु यदि स एव सत्यादिलक्षणः परमात्मा क्रमेण आकाशादि धरित्र्यन्तं सृष्ट्वा तदनुप्रविश्यान्नमयाद्यात्मना स्थितः संसरति चेत्, कोऽसौ तं सत्यादिलक्षणं अजं संसारे नियुंक्ते प्रेरयति। किमन्येन, स्वयमेवेति चेत्, किं वाऽस्य नानायोनिषु प्रवर्तमानस्य कार्यं प्रयोजनम्? अथवा, नानायोनिषु अप्रवर्तमानस्य तूष्णींभूतस्य स्वे महिम्नि स्थितस्य संसाराननुप्रवेशे असुखम् अनर्थजातं वा किं भवति? हे विद्वन्, मे ब्रूहि सर्वं यथावत्। तथा च ब्रह्मविदामेकः पुण्डरीको भगवान् याज्ञवल्क्यः तत एव सर्वस्य सृष्टिमुक्त्वा तस्यैव जीवात्मत्वमभ्युपगम्य—"यद्येवं स कथं ब्रह्मन् पापयोनिषु जायते। ईश्वरश्च कथं भावैरनिष्टैः संप्रयुज्यते" इति। "कोऽसौ नियुंक्ते" इत्यनेन भगवतोक्तमेव ब्रह्मजीववादपक्षं वावदूकचोद्यं स्वयमेव स्पष्टमुक्तवान् ॥ १९ ॥

नील०—ननु जीवः परं प्राप्नोति चेत् अन्यस्यान्यात्मताऽयोगात् पर एव जीवत्वं प्राप्नोतीत्युक्त भवति । तच्चायुक्तं अनियोज्यब्रह्मात्मत्वात् परस्येत्याशंकते—कोऽसाविति । त परात्मानं अज जन्मादिहीनं पुराणं पुराऽपि नवमित्यनेन परिणामित्व निरस्तम् । तादृशं परं कोऽसौ नियुंक्ते ? यन्नियोगादयं दुःखादिभाग्भवति । नियोजकान्तरसत्त्वे तस्याप्यन्यस्तस्याप्यन्य इति परानवस्थेति भावः । ननु पर एव नियोजकान्तर विना इद सर्वं चेतनाचेतन विश्वं "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इति श्रुतेः क्रमेण भवतीति शंकते—स चेदिति । एतद्दूषयति—किंचेति । अस्य परस्यावाप्तकामतया निष्कामस्य किंवा कार्यं कर्त्तव्यमस्ति न किमपीत्यर्थः । "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मंदोऽपि प्रवर्तते" इति न्यायेन प्रयोजन विना परे प्रवृत्तिर्न संभवतीत्यर्थः । ननु "लोकवत्तुलीलाकैवल्यम्" इति न्यायेन लोके निष्प्रयोजनापि चतुरंगादिक्रीडा दृश्यते । तद्वत्परस्यापि लीलैव जगत्सृष्टिप्रवेशादिकमित्याशंक्याह—अथवेति । चतुरंगादिक्रीडाऽपि सुखार्थमेव क्रियते, नच परस्य सुखलिप्साऽस्ति, नच स्वात्मानं स्वयमेव सकटे पातयतः सुख वाऽस्तीति न परस्य स्वतः सृष्टौ प्रवृत्तिः संभवति, नापि तेन सह जीवस्याभेदः संभवति, जीवपरयोर्भेदे तु जीवादृष्टानुरोधेन राजवत् परं जीवभोगार्थं सृष्ट्यादौ प्रवर्तते स्वकृतमर्यादापरिपालनार्थं चेति युज्यतेऽतः न तयोरभेदः संभवतीत्यर्थः ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया—हे विद्वन्=ज्ञानी, चेत्=यदि, इदम्=यह सर्वम्=चराचर जगत्, अनुक्रमेण=क्रमशः, सः=वह ब्रह्म ही है, तो, असौ=वह अजम्=अजन्मा और, पुराणम्=पुरातन पुरुष को, कः=कौन, नियुङ्क्ते=प्रेरित करता है, वा=अथवा, अस्य=इसका, किम्=क्या, कार्यम्=कार्य था, च=और, अथवा=क्या सुखम्=सुख था, तत्=यह सब, यथावत्=सम्पूर्ण रूप से, मे=मुझे, ब्रूहि=कहो ।

सरलार्थः—धृतराष्ट्र ने कहा—विद्वन्, यदि यह सम्पूर्ण चराचर विश्व क्रमशः परमात्मस्वरूप ही है, तो उस अजन्मा और सनातन पूर्ण पुरुष को प्रेरित करने वाला कौन है ? अथवा उस परमात्मा को विश्वरूप में प्रकट होने की क्या आवश्यकता थी अथवा उसमें उसे क्या सुख था । भगवन्, आप यथावत् सम्पूर्ण बातें मुझसे कहिए ॥ १६ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

सनत्सुजात उवाच—

दोषो महानत्र विभेदयोगे ह्यनादियोगेन भवन्ति नित्याः ।
तथाऽस्य नाधिक्यमपैति किंचित् अनादियोगेन भवन्ति पुंसः ।२०

शा० भा०—दोष इति। यद्येवं चोदयत एषोऽभिप्रायः–नियोज्यनियोक्तृत्वादिभेददर्शनादेकस्य कूटस्थस्य तदसंभवाद्भेदेन भवितव्यमिति। तत्र यदि ब्रह्मण एव नानात्वमभ्युपगम्यते चेत्–तदा तस्मिन् भेदयोगे ब्रह्मणो नानात्वयोगे दोषो महान्, को दोषः? द्वैतिनो ह्यतथावादिनो वैदिका भवेयुः, वेदहृदयं परमार्थमद्वैतं च बाध्यं स्यात्। किंच नानारूपेण परिणतत्वात् अनित्यादिदोषोऽस्थूलादिवाक्यविरोधश्च प्रसज्येत।

अथोच्यते नास्माभिर्ब्रह्मणो नानात्वमभ्युपगम्यते अपितु जीवपरयोर्भेदोऽभ्युपगम्यत इति। अत्रापि महान्दोषः यतो विनाशं प्राप्नोति। श्रूयते च–"मृत्योः स मृत्युम्" इत्यादि। "यदा ह्येवैष एतस्मिन् उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" इति। अथ जीवपरयोर्भेदेऽभ्युपगम्यमाने "तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म" इत्येवमादिश्रुतिस्मृतीतिहासपुराणभाषितत्वादवैदिकत्वं नाम महान् दोषो भवति। कथं तर्हि त्वत्पक्षे जीवेश्वरादिव्यवहारभेदः कथं वा तेषां नित्यत्वमिति? तत्राह—"अनादियोगेन भवन्ति नित्या" इति। अनादिरविद्या माया। तथाचोक्तं—"प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि" इति। "इयं हि साक्षात" इति च। तद्योगेन अनादिमायायोगेन भवन्ति जीवादयो नित्याः, अद्वितीयस्यापि परमात्मनो मायया बहुरूपत्वमुपपद्यत एव इत्यर्थः। श्रूयते च एकस्यैव बहुरूपत्वं—"इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" "एकं सद्विप्राः" "एकं संतं बहुधा" "एकः सन् बहुधा विचचार" "त्वमेकोसि" "अजायमानो बहुधा विजायते" इति। तथा च मोक्षधर्मे—"एक एव तु भूतात्मा भूते भूते व्यवस्थितः॥ एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचंद्रवत्" इति ॥ १ ॥ तथा च याज्ञवल्क्यः—"आकाशमेकम्" इति च। तथा च कावषेयगीतासु—"न जायते म्रियते वा" इति। तथा चाह भगवान्—"अहं प्रशास्ता सर्वस्य" इति। "न चाप्ययं संसरति न च संसारयत्प्रभुः" इति। किंच, मायानिमित्ते भेदेऽभ्युपगम्यमाने अस्य परमात्मनः कार्यकारणात्मना अवस्थितस्य आधिक्यं आधिपत्यं नापैति किंचित् किंचिदपि, मायात्मकत्वात्संसारस्य कूटस्थ एव भवतीत्यर्थः। यस्मादेवं तस्मात् अयादियोगेन अनाद्यविद्यायोगेन भवन्तिपुंस पुमांसो जीवाः बहवो भवन्ति।

अथवा, पुंसः पुरुषस्य पूर्णस्य परमात्मनो या माया अनादिसिद्धा तद्योगेन बहवो भवन्ति। तथा च एतत् सर्वमनुगीतासु स्पष्टमाह भगवान्—"इदं जगदनेकमिति वेदानुशासनम्" तथा चाह भगवान् पराशरः आत्मव्यतिरिक्तस्य सर्वस्य मिथ्यात्वम्–"ज्ञानस्वरूपमत्यन्तनिर्मलं परमार्थतः" इति। तथा चैतत्स्पष्टमाह भगवान्सनत्सुजातः ब्राह्मे पुराणे कावषेयगीतासु—"असंगेन वेदान् पठध्वम्" इति ॥ २० ॥

नील० —उत्तरमाह—दोष इति । विभेदयोगे विशेषेण भेदो ययोस्तौ विभेदौ विभिन्नौ तयोर्योगे अभेदेन ऐक्ये महान्दोषः अन्यस्यान्यात्मत्वासंभवात् अतो जीवपरयोस्तात्त्विको भेदो न युक्त इत्यर्थः । किं तर्हि अनादियोगेन न अत्तुं शीलमस्यनादिर्भोग्यवर्गः स्थलसूक्ष्मदेहद्वयात्मकानि क्षेत्राणि तैः सह योगेन संबंधेन पुंपरस्मात्सकाशात् नित्याः जीवाः घटाकाशजलचन्द्रादिन्यायेन भवन्ति तथा तेन औपाधिकेन भेदेन अस्य आधिक्यं किंचिदपि न अपैति । नहि जलचन्द्रे कम्पमाने मुख्यश्चन्द्रः कम्पते नापि घटाकाशे चलति मुख्ये आकाशे चलनं सम्भाव्यते । तथा श्रुतयः—"एक एव तु भूतात्मा भूते भूते प्रकाशते । एकधा बहुधा चैव दृश्यते जलचन्द्रवत् । यथा ह्ययं ज्योतिरात्मा विवस्वानपो भिन्ना बहुधैकोऽनुगच्छन् । उपाधिना क्रियते भेदरूपो देवः क्षेत्रेष्वेवमजोऽयमात्मा । घटसंवृतमाकाशं नीयमाने यथा घटे घटो नीयेत नाकाशं तद्वज्जीवो नभोपमः" इत्याद्या औपाधिकं जीवपरयोर्भेदं दर्शयन्ति । एकधेति, ईश्वररूपेण । बहुधेति, जीवरूपेण । एक एव शुद्धः, जलाशयतरंगचन्द्रन्यायेन प्रकाशत इत्यादिश्रुतेरर्थः । एवं च जीवेशभेदप्रयुक्तः सर्वोऽपि व्यवहारः सेत्स्यति । न च परान्तकल्पनाऽवतरतीति सिद्धम् । कथंभूतेन अनादियोगाख्येन क्षेत्रसम्बन्धेन अनादियोगेन अनादिना आदिशून्येनाज्ञानेन हेतुना योगः सम्बन्धोऽस्ति सोऽनादियोगस्तेन भवन्ति जन्मादिभाज इति शेषः । पुंसः पुमांसः । अज्ञानयोगोत्थक्षेत्रयोग इत्यर्थं ॥ २० ॥

शब्दार्थः – सनत्सुजात ने उत्तर दिया —अत्र=इस प्रश्न में, विभेदयोगे=ब्रह्म में नानात्व की कल्पना से, महान्=बहुत बड़ा, दोषः=दोष आता है । हि=क्योंकि अनादियोगेन=अनादि माया के योग से, नित्याः=नित्य जीव भवन्ति=होते हैं परन्तु वह अस्य=इस परमात्मा के, किञ्चित्=थोड़ी भी, आधिक्यम्=माहात्म्य को न=नहीं, अपैति=हटा सकता है । अपि च=और, अनादियोगेन=अनादि माया के सम्बन्ध से ही, पुंसः=जीव, भवन्ति=होते रहते हैं ॥ २० ॥

सरलार्थः—भगवान् सनत्सुजातजी ने कहा – हे राजन्, आपने जो प्रश्न किया है, इस विषय में एक महान् दोष आ जाता है क्योंकि जीव और ब्रह्म का विशेष भेद प्राप्त होता है और यह भेद कल्पना श्रुति विरुद्ध है । अनादि माया के संसर्ग से ही जीव नित्य प्रतीत होते हैं अर्थात् जीवों का भोग्य पदार्थों से सम्बन्ध बना रहता है । तात्पर्य यह है कि परमात्मा का सम्पूर्ण विश्व के रूप में प्रकट होना अनादि माया के कारण ही है । श्रुति कहती है—'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप इयते' । वस्तुतः माया के कारण ही परमात्मा में जल में सूर्य विम्ब की भाँति मिथ्याभूत जीवों की अभिव्यक्ति होती रहती है । जीव के इस औपाधिक विभेद के कारण परमात्मा के स्वरूप में किसी भी प्रकार का अपकर्ष नहीं हो सकता क्योंकि माया के संसर्ग से ही जीव के देहादि पुनः उत्पन्न होते रहते हैं ॥ २० ॥

एवं तावदेकस्यैव परमात्मनो अनादिमायायोगेन बहुरूपत्वमुक्तं, इदानीं यदीश्वरस्य कारणत्वं तदपि मायोपाधिकमित्याह—

य एतद्वा भगवान्स नित्यो विकारयोगेन करोति विश्वम् ।
तथा च तच्छक्तिरिति स्म मन्यते तथार्थयोगे च भवन्ति वेदाः ।२१।

शा० भा०—य एतदिति । य एतद्वा परमार्थभूतो भगवान् ऐश्वर्यादिसमन्वितः परमेश्वरो नित्यः स विकारयोगेन ईक्षणादिपूर्वकं विश्वं करोतीति तथा तत्सर्वं तच्छक्तिर्देवात्मशक्तिर्माययैव करोति न परमात्मा अपूर्वादिलक्षणः इति स्म मन्यते । न स्वतः चित्सदानन्दाद्वितीयस्य कारणत्वं, किन्तु मायावेशवशादित्यर्थः । किं तर्ह्यस्य तथाभूतशक्तियोगे प्रमाणम् इति चेत्, तत्राह—तथार्थयोगे । तस्य परमात्मनो जगदुपादानभूतमायार्थयोगे च भवन्ति वेदाः । तस्य मायासद्भावे वेदाः प्रमाणं भवन्तीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—"इन्द्रो मायाभिः" इति । तथा चाह भगवान्—"दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया" इति ॥ २१ ॥

नील०—जीवेशयोर्भेदं निरस्य प्रपंचस्यापि परमेश्वरात् पृथक्सत्त्वं वारयति—य एतद्वेति । वाशब्द उपमार्थे । य इति पुंस्त्वं विधेयापेक्षया एतत्परिदृश्यमानं जगत् यज्जगदिव भाति स नित्योऽविकारी भगवान्सर्वैश्वर्यसंपन्नः परमात्मैव वाशब्दो मिथ्यात्वद्योतकः । यथा हि "यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति" "अहमद्य स्वप्ने गजमिवाद्राक्षम्" इति वेदे लोके च मिथ्यार्थानुवादे इवशब्दः प्रयुज्यते । श्रुतिश्च—"इदं सर्वं यदयमात्मा ब्रह्मैवेदं विश्वं सर्वं खल्विदं ब्रह्म" इत्याद्या प्रपंचस्य ब्रह्मानन्यत्वमाह । विकारोऽनृतं माया तद्योगेन विश्वं करोति स्वप्नेन्द्रजालवत् नतु कनककुण्डलवज्जगद्ब्रह्मणोः परमार्थतो विकारविकारीभावोऽस्ति ब्रह्मणोऽप्यनित्यत्वापत्तेरित्यर्थः । ननु नित्यं परिणामि च प्रधानं स्वतन्त्रमेव कारणमस्तु सादृश्यात् नतु चेतनं वैलक्षण्यादित्याशङ्क्याह—तथाच तच्छक्तिरिति । तथाच तेनैव प्रकारेण स्वात्मनि स्वप्नवज्जगदवभासयन्ती तस्य परमात्मनः शक्तिस्तदनन्याऽस्तीति वेदोऽपि मन्यते स्म । तथाच श्रूयते—'देवात्मशक्तिं स्वगुणैर्निगूढाम्' इति 'पराऽस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते" इति च । ननु भोग्यत्वात् शक्तिः आत्मनः स्वं भोक्तृत्वादात्मा तत्स्वामी तथाच तयोर्भेदः इत्याशङ्क्याह—तथार्थेति । शक्तिर्हि न शक्तिमतः पृथग्दृष्टा वह्नेरिव दहनप्रकाशनशक्तिः । वेदा अपि 'बहु स्यां प्रजायेय" इति "सच्च त्यच्चाभवत्' इत्यादयः । चकाराल्लोके शक्तिग्रहोऽपि तादृशार्थयोगे शक्तिमतोरभेदेन सम्बन्धे प्रमाणं भवतीत्यर्थः ॥ २१ ॥

शब्दार्थः—एतत् वा=अथवा, यः=जो, भगवान्=ऐश्वर्य सम्पन्न है, स=वह, नित्यः=नित्य स्वरूप हैं, विकारयोगेन=विकार के सम्बन्ध से, विश्वं=विश्व को,

करोति=बनाता है, च=और, तथा=उस प्रकार की रचना तच्छक्तिः=उसकी शक्ति ही है, इति=ऐसा, मन्यतेस्म=माना जाता रहा है, तथा च अर्थयोगे=इस शक्तिग्रह के विषय मे, वेदाः = वेद भी, भवन्ति=प्रमाण होते हैं ॥ २१ ॥

सरलार्थः —भगवान सनत्सुजात कहते हैं कि नित्य ऐश्वर्य सम्पन्न परमात्मा नित्य-शाश्वत अविकारी होकर भी मिथ्याभूत माया के माध्यम से ईक्षणादिपूर्वक समस्त विश्व की रचना करता है। जगत की इस रचना को अथवा जो कुछ भी स्थावर-जंगम दिखाई पड़ता है, वह उस परमात्मा की शक्ति ही है। माया के सम्बन्ध से ही वह जगत का उपादान कारण है, वेद भी "वहु स्यां प्रजायेय" इत्यादि वाक्यों से इस सिद्धान्त में प्रमाणभूत हैं ॥ २१ ॥

एवं तावत् 'प्रमादं वै मृत्युमहं ब्रवीमि" इत्यादिना मृत्योः स्वरूपं तस्य कार्यात्मनाऽवस्थानं तन्निमित्तं चानेकानर्थं दर्शयित्वा केन तद्धंस्य विनाश इत्याशंक्य "एवं मृत्युं जायमानम्" इत्यादिना ज्ञानादेवाभयप्राप्तिं दर्शितां श्रुत्वा प्रासंगिके चोद्यद्वये परिहृते, कर्मस्वभावपरिज्ञानाय प्राह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच—

यस्माद्धर्मानाचरन्तीह केचित् तथाऽधर्मान्केचिदिहाचरन्ति।
धर्मः पापेन प्रतिहन्यते वा उताहो धर्मः प्रतिहन्ति पापम् ॥२२॥

शा० भा०—यस्मादिति। यस्मात् धर्मान् अग्निहोत्रादीन् आचरन्ति इह लोके केचित् तथा अधर्मान् इह आचरन्ति। किं तेषां धर्मः पापेन प्रतिहन्यते उताहो स्वित् धर्मः प्रतिहन्ति पापम्? अथवा तुल्यबलेन अन्यतरेण अन्यस्य विनाशः? इति ॥ २२ ॥

नील०—एवं जीवेशयोरभेदाज्जगतो मिथ्यात्वाज्जगज्जन्मादिनिमित्तभूताया प्रकृतेर्ब्रह्मानन्यत्वाच्च ब्रह्माद्वैतं सिद्धं तेन मृत्युर्नास्तीति पक्षः। येषां च मते कर्मभ्यो मृत्युनाशस्तेषामपि क्रममुक्तिप्रणाड्या कर्मणां मोक्षहेतुत्वं च स्थितम्। यस्मात्तु अस्मिन् मोक्षे निमित्ते धर्मान् अग्निहोत्रादीनि कर्माणि आचरन्ति किंवा मोक्षार्थं संन्यासमेव कुर्वन्ति अथवा क्रममुक्त्यर्थं कर्माण्येव उपासनारहितानि न कुर्वन्ति येषां तु तादृशं महान् धर्मो नास्ति किन्तु अल्प एवाग्निहोत्रादिर्नित्यानुष्ठानात्मकोऽस्ति तेषामपि धर्मः पापेन रागादिदोषेण हन्यते उत धर्म एव पापं हन्तीति प्रश्नार्थः ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—केचित्=कुछ लोग, इह=इस जगत् में, धर्मान्=धर्मों का, आच-रन्ति=आचरण करते हैं, तथा=उसी प्रकार, केचित्=कुछ लोग, इह=संसार में, अधर्मान्=अधर्मों का, पाप का, आचरन्ति=आचरण करते हैं, यस्मात् वा=क्या पापेन=पाप से, धर्मः=धर्म, प्रतिहन्यते=नष्ट होता है, वा=अथवा, धर्मः=धर्म, पापं को, प्रतिहन्ति=नष्ट कर देता है ॥२२॥

सरलार्थः—धृतराष्ट्र ने पूछा, हे सनत्सुजात ! इस लोक में कुछ प्राणी धर्म का आचरण करते हैं और कुछ अधर्म का । मुझे यह जानने की इच्छा है कि उन दोनों का परिणाम क्या है । क्या धर्म से पाप अभिभूत होता है अथवा पाप से धर्म तिहत होता है ? ।।२२।।

अविदुषः उभयोरनुभव एव नान्यतरेणान्यतरस्य विनाशः । विदुषः पुन- भयोरपि ज्ञानाग्निना विनाशः इति उत्तरमाह । एवं पृष्टः प्राह भगवान् नत्सुजातः—

सनत्सुजात उवाच—

तस्मिंस्थितो वाऽप्युभयं हि नित्यम् ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति सिद्धम् ।
थाऽन्यथा पुण्यमुपैति देही तथागतं पापमुपैति सिद्धम् ॥२३॥

शा० भा०—तस्मिन्निति ॥ तस्मिन् पुण्यापुण्यात्मके कर्मणि स्थितोऽपि वंन्नपि उभयं पुण्यापुण्यलक्षणं कर्म नित्यं नियमेन विद्वान् ज्ञानेन प्रतिहन्ति नाशयति । कथमेतदवगम्यते ज्ञानेन विद्वान् प्रतिहन्ति ? तत्राह—सिद्धं प्रसिद्धं तत् श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु । तथा च श्रुतिः "भिद्यते हृदयग्रन्थिः छिद्यन्ते संशयाः ॥ क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे" इति ॥ १ ॥

"यथा पुष्करपलाश" इति । "यथैषीका तूलमग्नौ" इति च । "यथैधांसि मिद्धोऽग्निः" इति च ।

"क्षणमात्मानुसंधानात्पापं दहति कोटिशः ।
अन्यथा पापविध्वंसो न भवेत्कोटिपुण्यतः" ॥ १ ॥

अन्यथा ज्ञानहीनश्चेत्पुण्यमुपैति । तथागतं पापमुपैति तत्फलं चोपभुङ्क्ते । थमवगम्यते इति चेत्, एतदपि श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु प्रसिद्धम् । तथा श्रुतिः—"इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ति प्रमूढाः ॥ नाकस्य सुकृतेन भूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति" इति ॥ "अनन्दा नाम ते लोका न तमसा वृताः ॥ तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः" ॥ तथैव मुदेवः—"त्रं विद्या माम्" इति च ॥२३॥

नील०—उत्तरमाह—तस्मिन्स्थिताविति द्वाभ्याम् । उभयं न्यासः सोपासनं च तस्मिन्मोक्षे स्वस्वरूपे स्थितौ स्थितिनिमित्तं नत अविचलं वाशब्दः र्थः । तयोर्विशेषमाह—ज्ञानेनेति । संन्यासपूर्वकेण ज्ञानेन ब्रह्मविद्यया सिद्ध निवृत्तं ब्रह्म प्रतिहन्ति अनृतजडदुःखादिप्रातिकूल्येन सच्चिदानन्दात्मकं गच्छति नोति हन्तेरत्र गत्यर्थत्व ज्ञेयम् । तथा सोपासनेन कर्मणा अन्यथा सिद्धाद्विपरीतं यं पुण्यं प्रशस्तं देवतादिभावं उपैति, यतः देही देहाभिमानी भवति तथागतं

तेन प्रकारेण स्थितं सिद्धं नरदेहाभिमानजं पापमपि कदाचित् उपैति । देव प्राप्तोऽपि कदाचिन्मुच्यते, अन्यथा जयविजयादिवत्ततो भ्रश्यत्यपि । इति ज्ञा श्रेष्ठमिति भावः ॥२३॥

शब्दार्थः—तस्मिन्=उस पाप-पुण्य में, स्थितः=रहता हुआ, अपि=भी, विद्वा ज्ञानी, हि=निश्चय ही, उभयम्=पाप और पुण्य दोनों को, नित्यम्=सर्वदा, ज्ञा ज्ञान द्वारा, प्रतिहन्ति=नष्ट कर देता है, यह बात सिद्धं=सिद्ध है, अन्यथा=अज्ञान देही=देहाभिमानी, जीवात्मा यथा=जैसे, आगत=भविष्य के, पुण्यं=पुण्य उपैति=प्राप्त करता है तथा=उसी प्रकार, पापं=पाप को भी ॥२३॥

सरलार्थः—सनत्सुजात ने कहा, राजन् । उस पाप-पुण्य में स्थित रहता ज्ञानी अपने ज्ञान द्वारा दोनों को ही नष्ट कर देता है । तात्पर्य यह है कि धर्म अधर्म अर्थात् पाप और पुण्य दोनों ही अज्ञानजनित हैं । अज्ञान के रहते हु इनकी सत्ता रहती है । परन्तु जब आत्मज्ञान से देहाभिमान के नष्ट हो जाने भी नष्ट हो जाते हैं । आत्मकल्याण का परम पुरुषार्थ ज्ञान ही है । उसके में देहाभिमानी जीवात्मा भविष्य के धर्म और अधर्म के फलस्वरूप पुण्य औ को प्राप्त करता है ॥२३॥

किं अविदुषः अनुभव एवोभयोः, उतान्यतरेणान्यतरस्य विनाश इति त

गत्वोभयं कर्मणा भुज्यतेऽस्थिरम् शुभस्य पापस्य स चापि कर्म
धर्मेण पापं प्रणुदतीह विद्वान् धर्मो बलीयानिति तस्य विद्धि ॥

शा० भा०—गत्वेति । गत्वा परलोकं प्राप्य उभयं पुण्यापुण्यलक्षणेन भुज्यतेऽस्थिरम् । श्रूयते च बृहदारण्यके—"यो वा एतदक्षरम्" इति । " अन्यथातो विदुः" इति च छांदोग्ये । स चापि सोऽपि विद्वान् धर्मेण कर्मणा प्रणुदति विनाशयति इह लोके विद्वान् वक्ष्यमाणलक्षणो ईश्वरार्पणबुध्या ज्ञाता तस्य धर्मो बलीयानिति विद्धि जानीहि, ईश्वरेऽर्पितत्वात् । त वक्ष्यति—"तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ॥ पापं विनिहत्य पश्चात्स जायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥ १ ॥ ज्ञानेन चात्मा विद्वानथान्यथा स्वर्गफलानुकांक्षी ॥ अस्मिन् कृतं तत्परिगृह्य सर्वममुत्र पुनरेति मार्गम्" इति ॥२४॥

"येषां धर्मे न च स्पर्द्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम्" इत्याह श्लोकद्वयेन—

नील० गत्वेति । उभयं पुण्यस्य पापस्य च फलं स्वर्गनरकाख्यं तच्च क्षयिष्णु गत्वा प्राप्य पुनरस्मिन्लोके कर्मणा पूर्वसंस्कारानुगुणेन तत्तद्यो युज्यते योगं प्राप्नोति कर्म कृत्वा तत्फलं भुक्त्वा पुनः कर्मैव कुरुते तेन कर्म

मुच्यते इत्यर्थः। यद्यप्येवं तथापि स चापि कर्मयोगी कर्मणा धर्मेण धर्मरूपेण पापं प्रणुदति दूरीकरोति विद्वान्। मूढस्तु कर्मणः फलं स्वर्गपश्वादिकमेवेच्छतीति भावः। अतो हेतोर्धर्मो बलीयान् न त्वधर्मः इति हेतोस्तस्य धर्मं कुर्वतः सिद्धिः कालेन रागादिदोषनाशद्वारा मोक्षोऽप्यस्तीत्यर्थः। विद्धीति पाठे सिद्धिमिति शेषः ॥२४॥

शब्दार्थः स=वह, अज्ञानी, कर्मणा=कर्म से, शुभस्य=शुभ, पापस्य=पाप का अस्थिरम्-क्षणिक, उभयं=दोनों फलों को, गत्वा=प्राप्त करके, भुज्यते=भोग करता है, च अपि पुनः वही कर्मणा, भ्रमते=कर्मों से भ्रान्त रहता है किन्तु विद्वान्, इह=इस लोक में, धर्मेण पापं=धर्म द्वारा पाप को, प्रणुदति=नष्ट करता है, अतः तस्य=उसका धर्म, बलीयान्=श्रेष्ठ है. इति विद्धि=ऐसा जानो ॥२४॥

सरलार्थः—देहाभिमानी अज्ञान के कारण शुभाशुभ कर्मों को करता हुआ दोनों के क्षणिक फलों का उपभोग करता है अर्थात् धर्माधर्म का आचरण करते हुए वह पाप एवं पुण्य रूप कर्मों को प्राप्त करता है। इन कर्मों का क्षय ज्ञान द्वारा ही सम्भव है अन्यथा कर्मों के रहते हुए वह बार-बार संसार चक्र में फँसता रहता है। परन्तु इन दोनों में धर्म श्रेष्ठ है, ज्ञानी पुरुष धर्म का आचरण करते हुए पाप कर्मों का क्षय करता रहता है। इस प्रकार पाप कर्मों के उदय न होने के कारण उसका हृदय अत्यन्त निर्मल होता जाता है और कर्मों से लिप्त नहीं होता। अतः इन दोनों में धर्म श्रेष्ठ है—ऐसा जानना चाहिए। धर्म ज्ञानमार्ग में बाधक नहीं अपितु वह मुक्ति के लिए मार्ग को प्रशस्त करा देता है ॥२४॥

येषां धर्मेषु विस्पर्द्धा बले बलवतामिव।
ते ब्राह्मणा इतः प्रेत्य स्वर्गे यान्ति प्रकाशताम् ॥२५॥

शा० भा०—येषामिति। येषां विषयपराणां स्वर्गादावुर्वश्यादिभोगश्रवणात् तत्साधनभूतज्योतिष्टोमादिधर्मेषु विस्पर्द्धा संघर्षो वर्तते अस्मादहमुत्कृष्टतरं धर्मं कृत्वा अस्मादपि सुखी भूयासमिति। बले बलवतामिव, यथा बलवतो राज्ञो बलवंतं राजानं दृष्ट्वा अहमस्मादपि बलवत्ता संपाद्य एनं जित्वा अस्मादपि सुखी भूयासमिति संघर्षो वर्तते तद्वत्। अनित्यफलसंगसहितास्ते ब्राह्मणाः यज्ञादिकारिणः इतः प्रेत्य धूमादिमार्गेण गत्वा स्वर्गे नक्षत्रादिरूपेण यान्ति प्राप्नुवन्ति प्रकाशतां प्रकाशम्। श्रूयते च—"अथ य इमे ग्रामइष्टापूर्ते दत्तमित्युपासते ते धूममभिसंभवन्ति" इति ॥२५॥

नील०—श्लोकद्वयेनाह—येषामिति। व्रते यमनियमादिरूपे विस्पर्धा अहमन्येभ्योऽधिकं यमादीन्साधयिष्यामि अहमन्येभ्य इति संघर्षः विश्वामित्रादिवत्तपस्यभिनिवेश इति यावत्। बलवतां मल्लादीनामिव ते योगिनः ब्राह्मणाः सगुणब्रह्मविदः

इतो देहात्प्रेत्य गत्वा ब्रह्मलोके तेजस्विनः पूज्याः भवन्ति ततो मुक्तिं च ब्रह्मणा। प्राप्नुवन्ति। तथा च स्मर्यते—

"ब्रह्मणा सह ते सर्वे संप्राप्ते प्रतिसञ्चरे।
परस्यान्ते कृतात्मानः प्रविशन्ति परं पदम्" इति ॥२५॥

शब्दार्थः— येषाम्=जिनकी, बले=बल में, बलवताम्=बलवानों के, इव=समान धर्मेषु=धर्म में, विस्पर्द्धा=विशेष स्पर्धा है, ते=वे ब्राह्मण, इतः=इस लोक से, प्रेत्य=मृत्यु को प्राप्त होकर, स्वर्गे=स्वर्ग में, प्रकाशताम्=ज्योतिर्मयता को, यान्ति=प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥

सरलार्थः— अब यह दिखा रहे हैं कि एक ही प्रकार का वह धर्माचरण किस प्रकार के साधक को स्वर्गादि प्राप्त कराता है और किसे परमार्थ ज्ञान की प्राप्ति में सहाय करता है? जो विषय-परायण हैं वे स्वर्ग के रमणीय पदार्थों के उपभोग की लालसा से उसकी प्राप्ति के साधन ज्योतिष्टोमादि यज्ञों का अनुष्ठान स्पर्धा के साथ करते रहते हैं। वे एक दूसरे के ऐश्वर्य को देखकर उससे भी अधिक प्राप्त करने के लिए होड़ लगाते हैं। जैसे कि एक शक्तिशाली पुरुष दूसरे के बल को देखकर उससे भी अधिक बलिष्ठ होने की इच्छा रखता है और उसे जीतकर सुख को प्राप्त करता है। इस प्रकार वे स्पर्धा रखते हुए यज्ञादि कर्मों द्वारा इस लोक से स्वर्ग में जाकर ज्योतिर्मयता को प्राप्त होते हैं। तात्पर्य है कि वे पुण्य कर्मों के क्षय होने पर पुनः मर्त्यलोक को प्राप्त करते हैं। कहा भी है, 'क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति' (गी०) ॥ २५ ॥

येषां धर्मे न च स्पर्द्धा तेषां तज्ज्ञानसाधनम्।
ते ब्राह्मणा इतो मुक्ताः स्वर्गं यान्ति त्रिविष्टपम् ॥२६॥

शा० भा०—येषामिति। येषां विषयानाकृष्टचेतसाम् अनित्यफलसाधने ज्योतिष्टोमादौ धर्मे न च स्पर्धा संघर्षो न वर्तते तेषां फलनिरपेक्षमीश्वरार्थं कर्मानुष्ठानवतां तद्यज्ञादिकं कर्म चित्तशुद्धिद्वारेण ज्ञानसाधनम्। वक्ष्यति च भगवान् स्वयमेव शुद्धिद्वारेणैव ज्ञानसाधनत्वम्—"पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात्स जायते ज्ञानविदीपितात्मा" इति। ये यज्ञादिभिर्विशुद्धसत्त्वाः परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छन्ति, ते ब्राह्मणा इतोऽस्मात्कार्यकारणलक्षणाल्लोकात् मुक्ताः स्वर्गं सुखं पूर्णानन्दं ब्रह्म यान्ति। इतरतः स्वर्गादस्य वैलक्षण्यमाह—त्रिविष्टपमिति। त्रिभिराध्यात्मिकादिभिः तापैः सत्त्वादिभिर्जाग्रदादिभिर्वा त्रिविष्टपम्। अथवा, तैर्विष्टम् अधिकारिणं पातीति त्रिविष्टपम् इति ॥२६॥

नील०— सर्वधर्मश्रेष्ठस्य योगधर्मस्य फलमुक्त्वा इज्यादिधर्मस्य फलनाह—येषामिति। अहमेव यज्ञादीन्सर्वोत्कर्षेणानुतिष्ठेयमिति येषाम् आग्रहः तेषां तत् यज्ञा

ज्ञानस्य साधनं विविदिषोत्पादनद्वारा भवति। तथा च श्रुतिः—"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशकेन" इति। त्रिविष्टपं देवलोकं न तु सत्यलोकं विविदिषाद्यर्थमपि कर्मानुतिष्ठताम् आनुषंगिकं स्वर्गफलमपि भवतीत्यर्थः। यदाहापस्तम्बः—"तद्यथाऽऽम्रे फलार्थे निर्मिते छाया गंध इत्यनूत्पद्येते एवं धर्मं चर्यमाणमर्था अनूत्पद्यंते इति" ॥२६॥

शब्दार्थः—एषां=जिन अनासक्तों की, धर्मे=धार्मिक कर्मों में, स्पर्धा=होड़, न=नहीं है, तेषां=उनके, तत्=वे कम, ज्ञानसाधनम्=ज्ञान के साधन हैं, वे ब्राह्मण, इतः=इस लोक से, मुक्ताः=मुक्त होकर, त्रिविष्टपम्=तीनों दुःखों से रहित, स्वर्गम्=पूर्णानन्द को, यान्ति=प्राप्त होते हैं ॥ २६ ॥

सरलार्थः—जिन ब्राह्मणों का चित्त विषयों में आसक्त नहीं है वे अनित्य फल को देने वाले स्वर्गादि के साधनों में संघर्षरत नहीं रहते। वे फल की कामना से रहित होकर कर्मानुष्ठान करते हैं जो कर्म चित्त शुद्धि द्वारा ज्ञान के साधनभूत होते हैं। इस प्रकार वे ज्ञान प्राप्त कर इस लोक से सर्वथा मुक्त हो जाते हैं और आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक तापत्रय से रहित पूर्ण ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाते हैं ॥ २६ ॥

इदानीं विदुषः समाचारमाह—

तस्य सम्यक् समाचारमाहुर्वेदविदो जनाः।
नैनं मन्येत भूयिष्ठं बाह्यमाभ्यन्तरं जनम् ॥२७॥

शा० भा०—तस्येति। तस्य विदुषः सम्यक् समाचारं वेदविदो जनाः विद्वांसः आहुः। नैनं योगिनं मन्येत चिन्तयेत् भूयिष्ठं बहु बाह्यमाभ्यन्तरं जनम्। पुत्रकलत्राद्याभ्यंतरं जनम्, इतरत् बाह्यम्। तथा पुत्रमित्रादयो न गृह्णन्ति, एषामगोचर एव वर्तते इत्यर्थः ॥२७॥

नील०—येतु अकरणे प्रत्यवायं मत्वा धर्मार्थमेव धर्ममनुतिष्ठंति न ज्ञानार्थं नापि स्वर्गार्थं तानाह—तस्येति। तस्य धर्मस्य समाचारं सम्यगनुष्ठानं वेदविदो वैदिकत्वाभिमानिनो जनाः सम्यगित्याहुः, नतु ततः किंचिदैहिकमामुष्मिकं वा फलं कामयंते। एनं जनं एनान् भूयिष्ठं अत्यंतं न मन्येत न मानयेत् किंचित्तु मानयेदेवेत्यर्थः। तमेव विशिनष्टि बाह्यम् आत्मनि वर्णाश्रमवयोवस्थाऽभिमानित्वात् बहिर्मुखम्। वैदिकत्वान्निष्कामत्वाच्च आभ्यंतरम्। यतः अकामहतस्य श्रोत्रियस्य कामोपमर्दतारतम्येन हिरण्यगर्भादर्वाचीनानां मानुषादीनामानंदगणनायाम् उत्तरोत्तरशतगुणितायां "स एक इन्द्रस्यानन्दः" "स एकः प्रजापतेरानन्दः" इति प्रतिपर्यायं 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' इति आनन्दोत्कर्षः श्रूयते ॥२७॥

शब्दार्थः—तस्य=उस ज्ञानी के, समाचारम्=आचार का, वेदविदोजनाः=वे विद्वान् लोग, आहुः=वर्णन करते हैं बाह्यम्=बाह्य व्यवहार सम्पन्न एवं आभ्यन्तरम्=ध्यानादि सम्पन्न, जनम्=इस विद्वान् को, भूयिष्ठं=अत्यधिक, न मन्यते=मान नहीं देते ॥ २७ ॥

सरलार्थः—इस श्लोक द्वारा विद्वान् के आचरण के विषय में बताते हैं। ज्ञानी निष्काम भाव से केवल धर्म के लिए ही अनुष्ठान करता है। वेदज्ञ इस जन की प्रशंसा करते हैं। वे पुत्र-कलत्रादि में अन्तर्मुख एवं बाह्य व्यवहार सम्पन्न जन को अधिक मान नहीं देते ॥ २७ ॥

कीदृशे देशे अस्य वास इत्याह—

यत्र मन्येत भूयिष्ठं प्रावृषीव तृणोदकम्।
अन्नपानं च विप्रेंद्रस्तज्जीवेन्नानुसंज्वरेत् ॥२८॥

शा० भा०—यत्रेति। यत्र यस्मिन्देशे मृगचोरादिपीडारहिते अन्नपानादि भूयिष्ठं बहुल वर्तते इति मन्येत प्रावृषीव तृणोदकं बहुलं भवति तद्वत्। तृणोलपमिति केचित्—"तृणोलप इति ख्यातो मुनिभोज्यौदनादिषु" इति वदन्ति दूर्वाविशेष इति केचित्। तत्र स्थित्वा तदन्नपानादिकमुपजीवेत्। नानुसंज्वरेत् संतप्तो न भवेत्। अन्यथा अन्नपानादिरहिते देशे कथं नाम देहयात्रा सिध्येदिति संतप्तो भवति, ततश्च न योगसिद्धिः ॥२८॥

नील०—एवं योगिनामात्मविविदिषूणां निष्कामवर्णाश्रमाभिमानिनां च उत्तममध्यमाधमभावेन प्रोक्तः। संप्रति अहिंसाप्रधानान्योगिधर्मानाह— यत्र मन्येतेति। यत्र गृहे अन्नं पानं च ब्राह्मणस्य संन्यासिनः भूयिष्ठमस्तीति मन्येत जानीयात् तत् गृहं प्राप्य जीवेत्प्राणयात्रां कुर्यात्। न क्षीणवृत्तिं गृहस्थं पीडयेदिति भावः प्रावृषि वर्षाकाले तृणं च उलपः उच्छ्रततरं तृणम्। "उलपो न स्त्री गुल्मिन्यां तृणांतरे" इति मेदिनी। तृणोदकमिति पाठांतरम्। नानुसंज्वरेत् क्षुद्बाधया आत्मानं न पीडयेदित्यर्थः ॥५८॥

शब्दार्थः—विप्रेन्द्र=श्रेष्ठ ब्राह्मण, प्रावृषि=वर्षाकाल में, तृणोदकम्=बढ़े तृण जल के, इव=समान, अन्नपानम्=खाद्य सामग्री की, जीवेत्=जीवन यापन न अनुसंज्वरेत्=शरीर को क्लेश न दें ॥ २८ ॥

सरलार्थः विद्वान् का वास कहाँ हो, इस सम्बन्ध में निर्देश देते हुए हैं कि जहाँ वर्षाऋतु में घास और जल की अधिकता स्वतः हो जाती है, जो पशु, चोर, दस्यु, उपद्रवी लोगों से रहित हो और खाने के लिए चिन्ता या की समस्या न करना पड़े उसी विशेष स्थान को निवास चुनना चाहिए, क्यों कष्ट सहन करते हुए रहने से कोई लाभ नहीं है ॥ २८ ॥

तत्राप्येवंविधजनसमीपे वास इत्याह—

यत्राकथयमानस्य प्रयच्छत्यशिवं भयम् ।
अतिरिक्तमिवाकुर्वन् स श्रेयान्नेतरो जनः ॥२९॥

शा० भा०—यत्रेति । यत्र यस्मिन्देशे अकथयमानस्य तूष्णींभूतस्य स्वमाहात्म्यं प्रच्छादयतो येन केनचिदाच्छन्नस्य येन केनचिदाशितस्य यत्र क्वचनशायिन आत्मानमिव लोकं पश्यतो जडवल्लोकमाचरतः प्रयच्छत्यशिवं भयम्, जड इति मत्वा अशिवमकल्याणमवमानादिकं प्रयच्छति, तथा अतिरिक्तमिवाकुर्वन्—यथा कश्चित् स्थितप्रज्ञलक्षणज्ञो ब्रह्मविदिति ज्ञात्वा प्रणिपातादिपूर्वकमीश्वरबुद्ध्या संपूजयति तद्वत् अज्ञाततया अतिरिक्तं ब्राह्मणजातिमात्रप्रयुक्तपूजातिरिक्तं पूजांतरं ब्रह्मविदनुरूपमकुर्वन्नवमानादिकमेव कुर्वन् यो जनः सोऽस्यविदुषः श्रेयान् । नेतरो यः प्रणिपातादिपूर्वकमीश्वरबुद्ध्या पूजयति । तथाह मनुः—

संमानात् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव ।

तथा चाह पराशरः—

"संमाननात्परां हानिं योगर्द्धेः कुरुते यतः ।
जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विंदति" इति ॥२९॥

नील०— यत्र देशे अकथयमानस्य स्वमाहात्म्यम् अप्रकाशयतः अशिवममंगलं भयं प्रयच्छति ससम्यंतमिदं भयप्रदेपि देशे स्थित्वा सत्यपि सामर्थ्ये तत्रत्यजनमध्ये आत्मानं स्वविद्यादिना अतिरिक्तम् अधिकमिव अकुर्वन् स्वोत्कर्षम् अप्रकाशयन् यो जनो भवति स श्रेयान् प्रशस्ततरः ! परपीडां मानं च त्यजेदिति श्लोकद्वयार्थः ॥२९॥

शब्दार्थः—यत्र=जहाँ, अकथयमानस्य=अपने महत्व को अप्रकाशित करने वाले के लिए लोग, अशिवम्=अभद्रता, भयम्=अवगणना, प्रयच्छति=प्रकट करते हैं, अतिरिक्तम्=अपने महत्व को, अकुर्वन्=छूपा रखता हुआ ही, इव=रहता है, स= वह, श्रेयान्=उत्तम है, इतरः=अन्य जन, न=नहीं ॥ २९ ॥

सरलार्थः—विद्वान् पुरुष अपनी महत्ता को प्रकट न करते हुए जिस स्थान पर निवास करता है वहाँ यदि उसे दूसरे लोगों से अभद्रता और भय प्राप्त होता है तो भी वह स्थान कल्याणकारक है । क्योंकि अपनी विशेषता को न बताते हुए जो रहता है वही ज्ञानी श्रेष्ठ है । अन्य पुरुष नहीं । तात्पर्य यह है कि वह ज्ञानी पुरुष जीवन्मुक्त होकर लौकिक व्यवहारों को जानते हुए भी न जानते हुए के समान ही व्यवहार करता है अर्थात् लोक में जड़वत् आचरण करता है ॥ २९ ॥

कीदृशस्य तर्हि अन्नं भोज्यमित्याह—

यो वाऽकथयमानस्य ह्यात्मानं नानुसज्वरेत् ।
ब्रह्मस्वं नोपहन्याद्वा तदन्नं संमतं सताम् ॥३०॥

शा० भा०—यो वा इति। अकथयमानस्य तूष्णींभूतस्य सर्वोपसंहारेण पूर्णात्मना अवस्थितस्य आत्मानं नानुसंज्वरेत् न तापयेत्, ब्रह्मस्वं नोपहन्याद्वा ब्रह्मनिष्ठासाधनभूतं चैलाजिनपुस्तकादिकं नोपहन्याद्वा। तथा चोक्तम्—

"रत्नहेमादिकं नास्य योगिनः स्वं प्रचक्षते।
कुशवल्कलचैलाद्यं ब्रह्मस्वं योगिनो विदुः" इति॥

अन्यदपि ब्रह्मश्वं ब्राह्मणस्वं नोपहन्याद्वा—तदन्नं तन्यान्नं संमतं भोज्यत्वेन ॥३०॥

नील०—ईदृशेन कस्यान्नं भोक्तव्य तमाह—य इति। यः पुमान् आत्मानं कथयमानस्य स्वप्रौढिं दर्शयतो नरस्योपरि नानुसंज्वरेत् परोत्कर्षं दृष्ट्वा न संतप्येत्, ब्रह्मस्व "यतिश्च ब्रह्मचारी च पक्वान्नस्वामिनावुभौ" इति स्मृतेः यत्यादिभ्यो यद्भोजनं तद्ब्रह्मस्वभोजनम् अकुर्वंश्च यो भवति तदन्नं तस्यान्नं सतां संमतम् अनुधारहितस्य श्रद्धापूर्वकं प्रयच्छत एवान्नं भोज्यमित्यर्थः॥३०॥

शब्दार्थः—वा=और, यः=जो पुरुष, अकथयमानस्य=प्रशंसा न करने वाले सज्जन की, आत्मानं=आत्मा को, न=नहीं, अनुसंज्वरेत्=उद्विग्न करता, ब्रह्म ब्राह्मणों के स्वत्व को, उपहन्यात्=अपहृत करता, तदन्नं=उसका शुद्ध अन्न सताम्=सज्जनों के लिए, सम्मतम्=सम्मत है, मान्य है॥ ३०॥

सरलार्थः—जो विद्वान् पुरुष अपनी प्रशंसा न करने वाले के विषय में किसी भी प्रकार उद्विग्न नहीं होता और जो उसके ब्रह्मगत्व का हनन नहीं करता अर्थात् ब्राह्मणोचित साधनों को नष्ट नहीं करता उसका शुद्ध अन्न ही सज्जनों के लिए प्रशस्त माना गया है।

"कथयमानस्य ऐसा पाठ" होने पर अर्थ होगा—जो ज्ञानी पुरुष अपनी आत्म प्रशंसा में इन मनुष्यों को देखकर उद्विग्न नहीं होता। ब्रह्मस्व का अर्थ ब्राह्मणोचित भोजन है॥ ३०॥

पुनरपि तस्यैव समाचारमाह—

नित्यज्ञातचर्या मे इति मन्येत ब्राह्मणः।
ज्ञातीनां तु वसन्मध्ये नैव विद्येत किंचन॥३१॥

शा० भा०—नित्यमिति। नित्यं नियमेन अज्ञातचर्या गूढचर्या मे कर्तव्येति मन्येत ब्राह्मणो ब्रह्मवित्। ज्ञातीनां पुत्रादिप्रभृतीनां मध्ये संनिवसन् नैव विद्येत प्रतिपद्येत किंचन किंचिदपि। कश्चनेति केचित्। पुत्रकलत्रादि परित्यज्य केवलः स्वात्मनिष्ठो गूढचार्येव भवेदित्यर्थः। तथा च श्रुतिः—

"कुटुम्बं पुत्रदारांश्च वेदांगानि च सर्वशः।
यज्ञं यज्ञोपवीतं च त्यक्त्वा गूढश्चरेन्मुनिः"॥ १॥

तथा चाह वसिष्ठः—

"यन्न संतं न चासंतं नाश्रुतं न बहुश्रुतम् ।
जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्" इति ॥

अथवा, 'नित्यमज्ञातचर्या अज्ञाते चक्षुराद्यविषयभूते वाचामगोचरे अनुदितानस्तमितज्ञानात्मनाऽवस्थिते अशनायाऽद्यसंस्पृष्टे पूर्णानंदस्वरूपे सर्वान्तरे प्रत्यग्भूते ब्रह्मणि चर्या निष्ठा समाधिलक्षणा मे मम कर्तव्या, न पराग्भूतदेहेंद्रियपुत्रमित्रकलत्रादौ स्थूलोऽहं कृशोऽहं ब्राह्मणोऽहं क्षत्रियोऽहमित्येवमात्मिका कर्तव्या' इति मन्येत स ब्राह्मणो ब्रह्मवित्! तथा च श्रुतिः—"यच्चक्षुषा न पश्यति" इति । यस्मादेवं तस्मादज्ञात एव ब्रह्मणि निष्ठा कर्तव्या तस्मात्—

'क्रोधमानादयोऽनित्या विषयाश्चेंद्रियाणि च ।
ज्ञातयश्च समाख्याता देहिनस्तत्त्वदर्शिनः" ॥

इति इन्द्रियादीनां ज्ञातिशब्देनोक्तत्वात् ज्ञातीनामिंद्रियाणां मध्ये वसन् पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन् इति मन्यमानो विजानन्नपि नैवमात्मादिरूपेण विद्येत प्रतिपद्येत, तत्साक्षित्वादात्मनः' तथा च श्रुतिः—'अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा" इति । देहद्वयतद्धर्मानात्मत्वेन न गृह्णीयादित्यर्थः ॥ ३१॥

नील०—यः ब्राह्मणः ब्रह्मवित् ज्ञातीनां मध्ये वसन्नपि ज्ञातयो मे मम नित्यम् अज्ञाता चर्या याभिस्ताः अज्ञातचर्याः सन्तु इति मन्येत, ज्ञातयो मे योगगतिं माज्ञासिषुरिति यस्य प्रच्छन्नतेजसो मतिः तं ब्राह्मणं ब्रह्मिष्ठं बुधाः तल्लक्षणज्ञाः विदुः ॥३१॥

शब्दार्थः—ब्राह्मणः=जो ब्राह्मण, नित्यं=नित्य, नियमित, अज्ञानचर्चा=अपनी साधना को गुप्त रखना, मन्येत=माने, ज्ञानिनाम्=कुटुम्बीजनों के, मध्ये=मध्य, वसन्=रहता हुआ, न किंचन विद्येत=कुछ भी न जाने ॥ ३१ ॥

सरलार्थः—ब्रह्मवेत्ता को चाहिए कि वह अपने बन्धुजनों के मध्य रहता हुआ भी अपने ब्रह्म तेज को अर्थात् तत्त्वज्ञान को प्रकट न करे। अपने आत्मिक गुणों को सर्वसामान्य जनों से प्रच्छन्न रखें। क्योंकि तत्त्वज्ञानी वही है जो आत्मसाक्षात्कार के अनन्तर उसके विषय में कोई तर्क-वितर्क नहीं करता। यही ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण का उत्तम लक्षण माना गया है। कहा भी गया है—

"जानन्नपि हि मेधावी जडवल्लोकमाचरेत्" ।

इस श्लोक का अन्य अर्थ शाङ्करभाष्य में द्रष्टव्य है ॥ ३१ ॥

कस्मात्पुनरेवं न गृह्यत इत्याह—

को ह्येवमन्तरात्मानं ब्राह्मणो मंतुमर्हति ।
निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वन्द्वविवर्जितम् ॥३२॥

शा० भा०—को ह्येनमिति। को हि निर्लिङ्गं सूक्ष्मम् अचलं क्रियाकर्त्रादि शून्यं शुद्धम् अविद्यादिदोषरहितं सर्वद्वंद्वविवर्जितम् अशनायापिपासादिधर्मैर्विव जितम् अन्तरात्मानं प्रमात्रादिसाक्षिणं मानाविषयभूतम् एवम् उक्तेन प्रकारे देहद्वयतद्धर्मतया "स्थूलोऽहं कृशोऽहं न गच्छामि न पश्यामि मूको बधिरः काण सुख्यहं दुःख्यहम्' इति ब्राह्मणः सन् मंतुमर्हति। तथा च सति ब्राह्मण्यमेव हीयेत इत्यर्थः। वक्ष्यति च—

"य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया" इति ॥ ३२ ॥

नील०—ईदृशीं चर्यां विना अनन्तरं उपाधिकृतव्यवधानशून्यम् आत्मा प्रत्यंचं निर्लिङ्गम् अनुमानाद्यगम्यम् अचलं व्यापकं शुद्धम् असगं सर्वद्वैतविवर्जि सजातीयविजातीयस्वगतभेदशून्यं हंतुं गंतुं हंतेर्गत्यर्थत्वमत्र ज्ञेयं, ज्ञातुमित्यर्थः कोऽर्हति न कोपीत्यर्थः। पाठांतरे तु सुगमम् ॥ ३२ ॥

शब्दार्थः—कः ब्राह्मणः=कौन ब्राह्मण बहिर्मुख होकर, हि=केवल, निर्लिङ्ग निराकार, अचल=अटल, सर्वद्वन्द्वविवर्जितम्=सभी द्वन्द्वों से रहित शुद्ध, निर्म एवम्=इस प्रकार, अन्तरात्मानम्=अपनी अन्तरात्मा के, मन्तुम्=मानने के लिए अर्हति=योग्य होता है ॥ ३२ ॥

सरलार्थः—जो ब्राह्मण देहाभिमानवश शरीर के धर्मों को 'मैं स्थूल हूँ, कृश हूँ' इत्यादि रूप से अनुभव करता है, वह सर्वथा भेदशून्य, चिह्नरहित सूक्ष्म अविद्या से मुक्त, एवं समस्त द्वैतभावों से शून्य परब्रह्म को कैसे प्राप्त कर सकता है? वस्तुतः ब्राह्मण वही है जो सर्वज्ञ होकर भी प्रच्छन्नभाव से समस्त व्यवहारों को करता है। तात्पर्य यह है कि उपरोक्त लक्षण सम्पन्न परमात्मा का साक्षा देहाभिमान से मुक्त कौन ब्राह्मण कर सकता है। उसे चाहिए कि वह पुत्र-कलत्रादि से आत्मभाव को त्याग दे ॥ ३२ ॥

यस्त्वेवं मनुते स पपीयानित्याह—

योऽन्यथा संतमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा ॥ ३३ ॥

शा० भा०—योऽन्यथेति। योऽन्यथाऽज्ञानात् निर्लिङ्गमचलं शुद्धं सर्वद्वन्द्व विवर्जितं चित्सदानन्दब्रह्मात्मना सन्तं स्वात्मानम् अन्यथा देहद्वयतद्धर्मात्मतया "कर्ता भोक्ता सुखी दुःखी कृशः स्थूलः अमुष्य पुत्रः अमुष्य नप्ता ब्राह्मणोऽहम् इत्येवमात्मानं प्रतिपद्यते किं तेन मूर्खेणानात्मविदा आत्मचोरेण आत्मापहारिणा न कृतं पापम्। महापातकादि सर्वं कृतं तेनेत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"असुर्या इति। "ब्राह्मण्यं प्राप्य लोकेऽस्मिन् मूको वा बधिरो भवेत्" इति स्मृतिः

तस्माद्विषयभूतदेहेन्द्रियादिष्वात्मभावं परित्यज्य अज्ञात एव वागाद्यगोचरे परमात्मनि निष्ठा कर्तव्येत्यर्थः ॥ ३३ ॥

नील०—आत्माऽज्ञाने दोषमाह—य इति । अन्यथा आत्मत्वेन भासमानाद्देहादेर्विपरीतं सन्तम् अन्यथा कर्त्रादिरूपम् । शेषं स्पष्टम् ।। ३३ ।।

शब्दार्थः—यः=जो अज्ञानी, अन्यथा=सच्चिदानन्द स्वरूप, सन्तं=प्रसिद्ध, आत्मानम्=आत्मा को, अन्यथा=जडादि रूप से, प्रतिपद्यते=समझता है, तेन=उस, चोरेण=चोर, आत्मापहारिणा=आत्मघाती ने, किम्=क्या, पापम्=पाप, कृतम्=किया ।। ३३ ।।

सरलार्थः—सम्पूर्ण प्रपञ्चों से अतीत उपरोक्त सर्वज्ञ सर्वज्ञशक्तिमत्वादि लक्षणों से युक्त उस परब्रह्म परमात्मा को जो विपरीत रूप से जानता है अर्थात् श्रुति प्रतिपादित उस ब्रह्म के विषय में अन्य प्रकार से विचार करता है । उस आत्मघाती चोर ने कौन-सा पाप नहीं किया ? अर्थात् सब कुछ ही किया है । वह शरीर के धर्मों को ही आत्मा के धर्म समझकर आत्मा के स्वरूप का हनन करता है अतएव सबसे बड़ा आत्मघाती है । श्रुति कहती है—

असुर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।
ताँस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः ।। ३३ ।।

अन्यथा देहद्वयमिन्द्रियादितद्धर्माननुपाददतः किं भवतीत्यत आह—

अश्रान्तः स्यादनादाता संमतो निरुपद्रवः ।
शिष्टो न शिष्टवत्स स्याद् ब्राह्मणो ब्रह्मवित्कविः ॥३४॥

आ० भा०—अश्रान्त इति । यः अनात्मभूतदेहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेन नोपादत्ते स पुरुषः अश्रान्तः स्यात् संसारश्रमयुक्तो न भवेत्, अशनायापिपासादेर्देहादिधर्मत्वात् । तथा च श्रुतिः—"अशनायापिपासे प्राणस्य" इति । देहद्वयाध्यासेन तद्धर्माध्यासो भवति । य एवमश्रान्ततया निरुपद्रवो भवति । क्रोधलोभभयहर्षादयो भूतदाहीया योगान्तराया उपद्रवाः- तद्धीनो निरुपद्रवः, स संमतः शिष्टवन्न स्यात् न आचरेत् जडवच्चरेत् । ब्राह्मणो ब्रह्मवित्कविः ॥ ३४ ॥

नील०—आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायमाह—अश्रान्त इति । अश्रान्तः श्रमहीनः यतः अनादाता आदानशून्यः निष्परिग्रह इत्यर्थः । अत एव संमतः शिष्टानां निरुपद्रवश्च स्वय भवति । तथा शिष्टोऽपि शिष्टवन्न स्यात् शिष्टत्वं न प्रकाशयेत् । पाठान्तरे—अशिष्टवत् यथेष्टाचरणकृन्न स्यात्किंतु शिष्ट एव वैदिकमर्यादापरिपालनपर एव स्यात् । कविः क्रान्तदर्शी ।। ३४ ।।

शब्दार्थः—सः=वह ब्रह्मवेत्ता, अश्रान्तः=निश्चिन्त, अनादाता=संग्रह रहित, निरुपद्रवः=परम शान्त, स्यात्=रहे; तथा=और, शिष्टः=शिष्ट होकर भी, शिष्टवत्=

शिष्ट की तरह, न=नहीं, स्यात्=करे, ब्राह्मणः=ब्राह्मण, ब्रह्मवित् कविः=ब्रह्मज्ञ तथा दूरदर्शी, सम्मतः=माना गया है ।। ३४ ।।

सरलार्थः—जो कर्त्तव्य पालन करने में थकता नहीं, अर्थात् अपनी आत्मा शरीर के धर्मों को अभ्यस्त नहीं करता, जो दान ग्रहण नहीं करता, सर्वमान्य, उपद्रव अर्थात् क्रोध लोभहर्षादि से रहित है तथा शिष्ट होकर भी अर्थात् आत्मज्ञानी होकर भी जो अपने ज्ञान का प्रदर्शन नहीं करता है, वही ब्राह्मण ब्रह्मवेत्ता और विद्वान् है ।। ३४ ।।

इदानीमगूढचारिणं कुत्सयन्नाह—

ये यथा वान्तमश्नन्ति श्वालाः नित्यमभूतये ।
एवं ते वान्तमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपभोजनात् ।।३५।।

शा० भा०—ये यथेति । "मूढाः श्वाना इति प्रोक्ताः श्वाच श्वाल" इति दर्शनात् यथा श्वालाः श्वानो वा मूढा वा वान्तम् उद्गीर्णमश्नन्ति, एवं ये शिष्टा ब्रह्मविदः स्वमाहात्म्यं ख्यापयन्तः अगूढचारिणो वर्तन्ते, ते वान्तमूद्गीर्णमश्नन्ति स्ववीर्यस्योपभोजनात् । यदिदं वान्ताशनं तद् अभूतये अनर्थायैवेत्यर्थः । तस्मात् गूढः सन् अशिष्टवदेव समाचरेदिति ।। ३५ ।।

नील०—श्वा शुनकः । ते सन्यासिनः स्ववीर्यस्य स्वपाण्डित्यस्य उपजीवनात् पाण्डित्यादिकं प्रकाश्य भिक्षामिच्छन् यतिः वान्ताशी भवतीत्यर्थः ।। ३५ ।।

शब्दार्थः—यथा=जैसे, वालाः=कुत्ते, वान्तम्=अपने वमन को ही चाव से अश्नन्ति=खाते हैं, एवम्=उसी तरह, वे लोग, नित्यम्=नित्य, अभूतये=अपने विनाश के लिए, स्ववीर्यस्य=अपने तप-तेज को ही, उपभोजनात्=आहार बनाने से ।। ३५ ।।

सरलार्थः—जिस प्रकार कुत्ता अपने ही वमन किये हुए को खा लेता है । वैसे ही जो ब्रह्मज्ञानी अपने ज्ञान-माहात्म्य को प्रदर्शित करते हुए गुप्तभाव से नहीं रहते हैं, वे भी अपने तेजरूपी आहार को उगल कर पुनः खाते हैं अर्थात् उनका वह ब्रह्मतेज सर्वथा अनर्थ के लिए ही होता है । तात्पर्य यह है कि ब्रह्मज्ञानी होकर भी लोक में उदासीनवत् आचरण करना चाहिए । श्रुति कहती है—"सचक्षुरचक्षुरिव सकर्णोऽकर्ण इव ।

इदानीं योगिनः प्रशंसयन्नाह—

अनाढ्या मानुषे वित्ते आढ्या वेदेषु ये द्विजाः ।
ते दुर्द्धर्षा दुष्प्रकम्प्या विद्यात्तान् ब्रह्मणस्तनुम् ।।३६।।

शा० भा०—अनाढ्या इति। अनाढ्या अबहुमता असक्तात्मानः मानुषे वित्ते जायापुत्रवित्तादिषु, आढ्या वेदेषु वेदप्रतिपाद्याहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्य-शमादिसाधनेषु ये द्विजास्ते दुर्द्धर्षाः दुष्प्रकम्प्याः। विद्यात्तान् ब्रह्मणस्तनुम्। ब्रह्मस्वरूपभूतान् इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

नील०—मानुषे वित्ते चक्षुर्ग्राह्यधनदारादिरूपे विषये अनाढ्याः दरिद्राः। सर्वसङ्गत्यागिन इत्यर्थः। दैवे वित्ते श्रोत्रग्राह्ये पारलौकिके धर्मादौ आढ्याः संपन्नाः। तथा क्रतौ ईश्वरोपासनायाम्। "स क्रतुं कुर्वीत" इत्युपासनायामपि क्रतुशब्दप्रयोगदर्शनात्। वैराग्यपूर्वकं कर्मोपासनानुष्ठानपरा निर्भया भवन्तीत्यर्थः। तनुं स्वरूपम् ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—ये=जो, द्विजाः=ब्रह्मर्षि लोग, मानुषे=लौकिक, वित्ते=धन में, अनाढ्या=हीन है, वेदेषु=ज्ञान में, आढ्या=सम्पन्न हैं, ते=वे लोग, दुर्द्धर्षाः=अजेय, दुष्प्रकम्प्याः=अटल कहे गये हैं अतः तान्=उन्हें, ब्रह्मणः=ब्रह्म का ही, तनुम्=स्वरूप, विद्यात्=समझें ॥ ३६ ॥

सरलार्थः—जो ब्राह्मण लौकिक धन, ऐश्वर्य आदि सम्पत्ति से निर्धन होने पर भी वेद प्रतिपाद्य अहिंसा व्रत आदि साधन सम्पन्न एव यज्ञ-उपासना आदि से सम्पन्न हैं, वे दुर्धर्ष हैं और किसी भी स्थित में विचलित नहीं होते। उसी को ही ब्रह्म की साक्षात् मूर्ति समझना चाहिए ॥ ३६ ॥

किंच ब्रह्मविन्महिमैषः—

सर्वान् स्विष्टकृतो देवान् विद्याद्य इह कश्चन।
न समानो ब्राह्मणस्य यस्मिन्प्रयतते स्वयम् ॥३७॥

शा० भा०—सर्वानिति। सर्वानग्न्यादीन् स्विष्टकृतः सुष्ठु इष्टं कुर्वन्तीति। तथा च श्रुतिः—"स्विष्टं कुर्वन् स्विष्टकृत्" इति। देवान् प्रत्येकमुद्दिश्य त्यागार्थं विद्यात् य इह कश्चन सर्वदेवतायाज्यपि ब्राह्मणस्य न समानो ब्रह्मविदा न समान इत्यर्थः। नैतदाश्चर्यम्—यस्मिन् देवताविशेषे हविष उद्देशत्यागेन फलार्थं प्रयतते स्वयं यजमानः 'इदमग्नये इदमिन्द्राय' इति सोऽपि हविष्पतिर्यो-ऽन्यादिदेवताविशेषो न समानो ब्रह्मविदा, किमु वक्तव्यं देवपशुर्यजमानो न समान इति।

तथा च मोक्षधर्मे—

ब्राह्मणस्य न सादृश्ये वर्तते सोऽपि किं पुनः।
इज्यते येन मन्त्रेण यजमानो द्विजोत्तमः ॥ इति।

तथा च मनुः—

ब्रह्मविद्भ्यः परं भूतं न किंचिदिह विद्यते। इति ॥ ३७ ॥

नील०—सर्वक्रतुभ्यो ब्रह्मज्ञानमेव श्रेष्ठमित्याह—सर्वानिति। स्विष्टं शोभन इष्टं दिव्यस्त्र्यन्नपानादिकं ये यागेन प्रीताः सन्तो यजमानाय कुर्वन्ति ते स्विष्टकृ देवाः तान्सर्वान् यः अश्वमेधान्तसकलक्रतुकर्ता वेद साक्षात्कुर्यात्सोऽपि ब्राह्मण ब्रह्मविदः समानो न भवति। तत्र हेतुः—तस्मिन्निति। यतः तस्मिन् स्विष्टे निमि स्वयं प्रयतते यत्नवान्भवति। अयंभावः—स्विष्ट क्रियासाध्यत्वादनित्यफलं, ब्रह्म स्वतःसिद्धमेव अभिव्यज्यते इति तज्ज्ञानफलभूतो मोक्षोऽपि स्वतःसिद्धत्वात् नि इति न स्विष्टं ब्रह्मज्ञानसमम् इति॥ ३७॥

शब्दार्थः—यः=जो, कश्चन=कोई भी, इह=इस लोक में, सर्वान्=सभी, 'स्वि कृतः=इष्टकारी, देवान्=देवताओं को, विद्यात्=साक्षात्कार करता है, यस्मिन्=जि देवताओं में स्वयं=अपने आप ही, प्रयतते=प्रयत्न करता है, ब्राह्मणस्य=ब्रह्मज्ञानी समानः=सदृश, न=नहीं है॥ २७॥

सरलार्थ—जो ब्राह्मण इस संसार में सम्पूर्ण कामनाओं को पूर्ण करने वा देवताओं को जान लेता है, तो भी वह ब्रह्मज्ञानी के तुल्य नहीं हो सकता क्यों वह यज्ञादि कर्मोपासना करते हुए भी अभीष्ट फल की प्राप्ति के लिए ही स प्रयत्नशील रहता है। जो ब्रह्मज्ञानी है, वह ब्रह्मस्वरूप ही हो जाता है। उ अवस्था में पहुँच कर साधक को किसी भी फल की अभिलाषा नहीं रह जाती ॥३७

पुनरपि तस्यैव समाचारमाह—

यमप्रयतमानं तु मानयन्ति स मानितः।
न मान्यमानो मन्येत नावमानेऽनुसंज्वरेत् ॥३८॥

शा० भा०—यमिति। यं ब्रह्मविदम् अप्रयतमानं तूष्णींभूतं सर्वोपसंहा कृत्वा स्वे महिम्नि व्यवस्थितं गूढचारिणं केचिद्विद्वांसः स्थितप्रज्ञलक्षणज्ञाः ब्रह्म विदिति ज्ञात्वा मानयन्ति पूजयन्ति चेत्, स तैः मानितः पूजितोऽपि विद्वान् 'मान्यमानः अहम्' इति मन्येत। तथा, स्थितप्रज्ञलक्षणानभिज्ञाः अज्ञ इति मत्व अवमानं कुर्वन्ति चेत् तस्मिन् अवमाने निमित्ते न अनुसंज्वरेत् न अनु तप्येत ।; ३८॥

नील०—यमिति। यम् अप्रयतमानं निरारम्भं यादृशं मानयन्ति देवादयः स ए ब्रह्मात्मवित् मानितो भवति। य तु 'यज्ञादिकर्ता अयम्' इति मानयन्ति स देवान पशुः अमानित एव। तथा च श्रुतिः—"अथ योऽन्यां देवतामुपास्तेऽन्योसावन्यो मस्मीति न स वेद यथा पशुरेव स देवानाम्" इति। उपास्ते यज्ञादिना तर्पय ततो हेतोः आत्मानम् अन्यैर्मान्यमानमपि मान्यं न मन्येत नापि अभिसंज्वरेत्, अवमा सति इति शेषः। नकारो भिन्नक्रमः॥ ३८॥

शब्दार्थः—तु=किन्तु, यं=जिसे अप्रयतमानं=अप्रयत्न करने वाले को, मानयन्ति=सम्मानित करते हैं, सः=वह, मानितः=मानित होता हुआ, मान्यमानः=अपने को मान्यवान्, न=नहीं, मन्येत=माने, तथा=तथा, अवमाने=उपेक्षित होने पर, अनुसंज्वरेत्=अनुताप करे ॥ ३८ ॥

सरलार्थः—अपने माहात्म्य का प्रदर्शन न करने वाले ब्रह्मवेत्ता पुरुष को विद्वान् लोग ब्रह्मज्ञानी मानकर पूजते हैं—सम्मान देते हैं तो भी वह आत्मज्ञ "मेरा सम्मान हो रहा है" ऐसा न मानें तथा कुछ लोग अज्ञानी कह कर उसकी अवज्ञा भी करें तो वह किसी भी प्रकार अपने मन में क्षोभ उत्पन्न न करें, वही वास्तव में श्रेष्ठ ब्रह्मज्ञानी है।

किं तर्हि मानितेन अवमानितेन वा मन्तव्यम् इत्याह श्लोकद्वयेन—

लोकस्वभाववृत्तिर्हि निमेषोन्मेषवत्सदा।
विद्वांसो मानयन्तीह इति मन्येत मानितः ॥३९॥

शा० भा०—लोकेति। यदिदं विद्वांसो ब्रह्मविदं मानयन्ति इति तत्तेषां निमेषोन्मेषवत् स्वभाववृत्तिः स्वाभाविकी वृत्तिः इति मन्येत ॥ ३९ ॥

नील०—लोकः स्वभावादेव मां मानयति न तु मयि मानयोग्यता अस्ति इति मत्वा दर्पं न प्राप्नुयादित्याह—लोक इति ॥ ३९ ॥

शब्दार्थः—इह=इस संसार में, विद्वांसः=विद्वान् लोग, मानयन्ति=सम्मान देते हैं, तु=तो, मानितः=सम्मानित पुरुष, निमेषोन्मषवत्=आँख खोलने बन्द करने के तुल्य, लोकस्वभाववृत्ति=संसार की यह प्रकृति, इति=इस तरह, सदा=नित्य, मन्येत=मानता रहे ॥ ३९ ॥

सरलार्थः—जगत में जब विद्वान् लोग सम्मान करते हैं, तो आदरणीय पुरुष को समझना चाहिए कि नेत्र खुलने और बन्द होने के समान यह संसार की स्वाभाविक प्रकृति ही है। सन्त पुरुष सम्मान्य का आदर करते हैं एवं अभद्र पुरुष अनादर। इससे न तो हानि ही है और न लाभ ही है। इस प्रकार संसार की स्वाभाविक प्रवृत्ति में उलझना नहीं चाहिए ॥ ३९ ॥

तथा, अमानितो जनैरवज्ञातो विद्वानेवं मन्येत—

अधर्मविदुषो मूढा लोकाः शास्त्रविवर्जिताः।
न मान्यं मानयिष्यन्ति एवं मन्येदमानितः ॥४०॥

शा० भा०—अधर्मविदुषो मूढाः विवेकहीनाः लोकाः शास्त्रविवर्जिताः न मान्यं मानार्हं मानयिष्यन्ति अमान्यमपि मानयिष्यन्ति इत्येतत् अविदुषां स्वभावः इति मन्येत अमानितोऽपूजितो विद्वान् ॥ ४० ॥

नील०---ये न मानयन्ति तेऽपि पशुवन्निर्विवेकत्वादुपेक्ष्या एव न तु दण्डनीया इत्याह--अधर्मेति ॥ ४० ॥

शब्दार्थः—अधर्मविदुषः=अधर्म में निपुण, मूढाः=मूढ, लोकाः=प्राणी, शास्त्रविवर्जिताः=शास्त्र से रहित, मान्यम्=मानने योग्य सत्यपुरुष को, न=नहीं, मानयिष्यन्ति=मान्यता देते हैं, अमानितः=अमानित होता हुआ, एवं=ऐसा ही, मन्येत्=समझे ॥ ४० ॥

सरलार्थः--किन्तु इस संसार में जिन लोगों की अधर्म में ही प्रवृत्ति है, उसी में वे निपुण हैं तथा शास्त्र के मार्ग से अनभिज्ञ अर्थात् छल कपट में चतुर हैं, वे सम्माननीय पुरुष का भी आदर नहीं करते। उनकी बुद्धि लौकिक पदार्थों में ही उलझी रहती है। वे धन, बल, एवं यश आदि का ही निरन्तर चिन्तन करते रहते हैं अतः वे मूढ पुरुष ब्रह्मवेत्ता को जान नहीं पाते ॥ ४० ॥

इदानीं मानमौनयोर्भिन्नविषयत्वमाह—

न वै मानं च मौनं च सहितौ वसतः सदा।
अयं मानस्य विषयो ह्यसौ मौनस्य तद्विदुः ॥४१॥

शा० भा०--न वै इति। न वै मानं च मौनं च सहितौ एकत्र वसतः सदा अयं प्रत्यक्षादिगोचरो लोको—लोक्यत इति प्रपञ्चो मानस्य विषयः। असौ परलोको मौनस्य। कोऽसौ। तत् विदुः। तथा चाह भगवान्--

"ओं तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः" इति।

तथा चानुगीतासु—

"ॐ तत्सद्विष्णवे चेति सायुज्यानि पदानि वै। इति। तच्छब्दवाच्यं ब्रह्म मौनस्य विषय इत्यर्थः। एतदुक्तं भवति—मानात्संसारप्राप्तिः मौनेन ब्रह्मप्राप्तिरिति। उक्तं च हिरण्यगर्भे—

अन्नाङ्गनादिभोगेषु भावो मान इति स्मृतः।
ब्रह्मानन्दसुखप्राप्तिहेतुर्मौनमिति स्मृतम् ॥ इति ॥४१॥

नील०--न वै इति। मानं क्लीवत्वमार्षं मुनेः कर्म मौनं योगिचर्या मानार्थिनां परलोको दुःसंपादः परलोकार्थिनां मौनिनां च इह लोको दुःसंपादः इति भावः ॥४१॥

शब्दार्थः--वै=निश्चय, मानम्=सम्मान, च=और, मौनम्=ब्राह्मी स्थिति, सदा=सर्वदा, सहितौ=एक साथ, न=नहीं, वसन्तः=रह सकते, च=क्योंकि, अयम्=यह सांसारिक प्रतिष्ठा, मानस्य=लौकिक मान का, विषय=विषय है, मौनस्य=ब्रह्मज्ञान का, असौ=ब्राह्मी स्थिति ही, विदुः=निश्चित की गयी है।

सरलार्थः—यह निश्चित बात है कि मान और मौन लोक में सदा एक साथ नहीं रहते। मान देने के लिए अनेक प्रकार की प्रशंसा में रत होना पड़ता है परन्तु

मौन धारण करने से आत्म-चिन्तन व्यापक होता है। अतः मान से इस लोक में सुख मिलता है और मौन से परलोक में अर्थात् लोकानुरञ्जन का साधन मान है और परमार्थ का विषय मौन है ॥ ४१ ॥

इदानीं मानार्थसंवासे अपवर्गाभावं दर्शयति—

श्रीर्हि मानार्थसंवासात्सा चापि परिपन्थिनी।
ब्राह्मी सुदुर्लभा श्रीर्हि विद्याहीनेन क्षत्रिय ॥४२॥

शा० भा०—श्रीरिति। हे क्षत्रिय! श्रीर्हि मानार्थसंवासात् मानविषयसंवासात् मानगोचरे प्रपञ्चे वर्तमानस्य स्वर्गपश्वन्नादिसाधनभूतं कर्मानुतिष्ठतः श्रीर्हि भवति। सा चापि श्रीः परिपन्थिनी श्रेयोमार्गविरोधिनी। तथा च मोक्षधर्मे—"निबन्धिनी रज्जुरेषा" इति। य एवं श्रिया अभिभूतो मूढः सन् विषयेषु प्रवर्तते तेन विद्याहीनेन ब्राह्मी ब्रह्मानन्दलक्षणा श्रीः। तथा च हिरण्यगर्भे—

या नित्या चिद्घनाऽनन्ता गुणरूपविवर्जिता।
आनन्दाख्या परा शुद्धा ब्राह्मी श्रीरिति कथ्यते ॥

सा च दुर्लभा श्रवणायापि न शक्या। तथा च श्रुतिः—"श्रवणायापि बहुभि:" इति ॥ ४२ ॥

नील०—श्रीरिति। धनाभिजनैश्वर्यरूपा लक्ष्मीः सुखस्य मानरूपस्य संवासः अधिष्ठानं तथापि सा परिपन्थिनी चोरतुल्या परलोकस्य नाशिनी। योगिनां तु सुतरामनिष्टकरीत्यर्थः। ब्राह्मणस्य योग्या श्रीः ऋग्यजुःसामात्मिका ऋचः सामानि यजूंषि। "सा हि श्रीरमृता सताम्" इति श्रुतेः। प्रज्ञाहीनेन ऋगादीनां रहस्यं न प्राप्तुं शक्यमित्यर्थः ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः—हे क्षत्रिय=हे राजर्षि, मानार्थसंवासात्=मान के लिए नीति-पूर्वक रहने से हि=अवश्य, श्रीः=लक्ष्मी प्राप्त होती है, अपि=किन्तु, सा=वह लौकिक लक्ष्मी, परिपन्थिनी=परमार्थ की विरोधी है, हि=और, विद्याहीनेन=ब्रह्मविद्या से हीनों के लिए, ब्राह्मीश्रीः=ब्राह्मीस्थिति रूपी लक्ष्मी, सुदुर्लभा=अतीव दुर्लभ है ॥ ४२ ॥

सरलार्थः—हे राजन्, मान के लिए लौकिक सुख के साधनों का अनुष्ठान करने से लक्ष्मी की प्राप्ति तो अवश्य होती है, परन्तु वह लक्ष्मी परम श्रेय के मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती है अर्थात् ऐहिक सुख मोक्ष प्राप्ति में बाधक ही है। वस्तुतः अज्ञानान्धकार से समावृत प्राकृत जनों के लिए ब्राह्मी स्थिति रूप लक्ष्मी अत्यन्त ही दुर्लभ है। वे लौकिक उपभोगों में ही लिप्त रहते हैं। वे प्रज्ञाचक्षु से हीन होने के कारण श्रेय-मार्ग को देखने में असमर्थ होते जाते हैं ॥ ४२ ॥

इदानीं ब्रह्मलक्ष्मीप्रवेशद्वाराणि दर्शयति—

द्वाराणि सम्यक् प्रवदन्ति सन्तो बहुप्रकाराणि दुराचराणि ।
सत्यार्जवे ह्रीर्दमशौचविद्याः षण्मानमोहप्रतिबन्धकानि ॥४३॥

इति श्रीमहाभारते उद्योगपर्वणि धृतराष्ट्रसनत्कुमारसंवादे
श्रीसनत्सुजातीये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

शा० भा०—द्वाराणीति । द्वाराणि ब्रह्मलक्ष्मीप्रवेशद्वाराणि सन्तः सम्यक् प्रवदन्ति बहुप्रकाराणि दुराचराणि दुःखाचरणानि । कानि तानि ? सत्यं, यथार्थभाषणं भूतहितं च । आर्जवम्, अकौटिल्यम् । ह्रीः, अकार्यकरणे लज्जा । दमः अन्तःकरणोपरतिः । बहिःकरणोपरतिरिति केचित् । शौचं मलकल्मषप्रक्षालनम् । विद्या ब्रह्मविद्या । षडेतानि मानमोहप्रतिबन्धकानि ॥ ४३ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशङ्करभगवतः कृतौ सनत्सुजातीयभाष्ये प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

नील० —तस्य ब्रह्मसुखस्य द्वाराणि प्राप्तिसाधनानि दुराचराणि दुःसंरक्ष्याणि सत्यं यथार्थभाषणम् । आर्जवम् अवक्रता । ह्रीः, लोकापवादभयम् । दमः इन्द्रियनिग्रहः । शौचं मृज्जलाभ्यां बाह्यम्, आन्तरं तु मनःशुद्धिः । विद्या वेदशास्त्राधिगमः ययेति । एतेषु सत्सु अनादिवासनया आगतोऽपि मोहो यथावन्न प्रभवति । षण्मानमोहप्रतिबन्धकानीति पाठे स्पष्टोऽर्थः ॥ ४३ ॥

इति उद्योगपर्वणि नैलकण्ठीये भावदीपे सनत्सुजातीये
टीकायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

शब्दार्थः—सन्तः=सन्तपुरुष, दुराचराणि=कठिनता से साध्य, बहुप्रकाराणि=अनेक, द्वाराणि=द्वारों को, सम्यक्=अच्छी तरह, प्रवदन्ति=बतलाते हैं, सत्यार्जवे=सत्य और नम्रता, ह्रीः=लोकलज्जा, दम शौच विद्या=इन्द्रिय संयम, पवित्रता और अध्यात्मविद्या, षट्=ये छः, मानमोहप्रतिबन्धकानि=मानमोहादि के बाधक हैं ॥ ४३ ॥

सरलार्थः—उस ब्राह्मी पदरूप लक्ष्मी की प्राप्ति के छः प्रकार के मुख्य द्वार बताये गये हैं, जिनका आचरण अत्यन्त क्लेशभव है । वे इस प्रकार हैं—(१) सत्य, (२) अकुटिलता, (३) लज्जा, (४) दम, (५) पवित्रता और (६) अध्यात्मविद्या (ब्रह्मविद्या) । ये छः साधन संसार में मान और मोह के प्रतिबन्धक हैं ॥ ४३ ॥

इति श्रीसनत्सुजातीयदर्शने 'प्रज्ञा'-हिन्दीव्याख्यायां प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथ द्वितीयोऽध्यायः ।

अयं मानस्येत्यादिना मौनमाहात्म्यं प्रदर्शितं श्रुत्वा प्राह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच—

कस्यैष मौनः कतरन्नु मौनं प्रब्रूहि विद्वन्निह मौनभावम् ।
मौनेन विद्वानुत याति मौनं कथं मुने मौनमिहाचरन्ति ॥१॥

शा० भा०—कस्येति। कस्य कीदृशस्य एष पूर्वोक्तो वागाद्युपरमलक्षणो मौनो भवति ?। कतरन्नु एतयोरसंभाषणात्मस्वरूपयोः मौनम् ? प्रब्रूहि हे विद्वन्, इह मौनभावम् । मौनेन तूष्णींभावेन विद्वानुत याति मौनं ब्रह्म, आहोस्विदन्येन ?। कथं मौनमिहाचरन्ति ?॥ १ ॥

नील०— पूर्वाध्यायान्ते 'मौनं ब्राह्मी श्रीः सत्यादिषट्कं च मोहात्मकस्य मृत्योः प्रतिरोधकानि' इत्युक्तम्; तान्येव प्रश्नपूर्वकं विवरीतुमध्यायान्तरमारभते 'कस्यैष मौन' इत्यादि । न्यासपूर्वकं स्वीक्रियमाणो मुनेर्धर्मो मौनसंज्ञः कस्य प्रयोजनस्यार्थे इत्येकः प्रश्नः । लोकप्रसिद्धेर्वाङ्नियमो वा, "अमौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः" इति श्रौतप्रसिद्धेः अमौनशब्दितात् पाण्डित्यबाल्यापरपर्यायात् श्रवणमननाख्याद् द्वयाद् अन्यत्तसमनियतं निदिध्यासनं वा मौनशब्दितम्, तयोर्मध्ये अत्र कतरन्मौनशब्दाभिधेयमिति द्वितीयः । तस्य च भावं स्वलक्षणं ब्रूहीति तृतीयः । तेन मौनेन विद्वान् मौनं मनःप्राणेन्द्रियक्रियाणां निरवशेषेणोपरमं, निर्विकल्पं पदमिति यावत् । तदुत अपि यातीति चतुर्थः । कथं वा केन प्रकारेण मौनमाचरन्तीति पञ्चमः प्रश्नः ॥ १ ॥

शब्दार्थः - विद्वन्=हे विद्वन् ! कस्य=किसका, एष=यह, मौनः=मौन है, नु=तथा, कितरन्=किस तरह का यह, मौनम्=मौन है, इह यहाँ, मौनभावम्=मौन के रहस्य को, प्रब्रूहि=बतायें, उत्=अथवा, विद्वान्=विद्वान जन, मौनेन=मौन द्वारा, मौनम्=मौन ब्रह्म को, कथं=कैसे, याति=प्राप्त करते हैं तथा, मुने=हे मुनि ! इह=इस लोक में कैसे, मौनम् मौन का, आचरन्ति=आचरण करते हैं ॥ १ ॥

सरलार्थः—प्रथम अध्याय के अन्त में मौन का माहात्म्य बताया गया, उसे सुनकर धृतराष्ट्र के मन में इस विशिष्ट मौन के विषय में जिज्ञासा उत्पन्न हुई—

धृतराष्ट्र ने कहा—हे मुनिवर, यह वाक् निरोधात्मक मौन किस स्वभाव के पुरुष को होता है । यह असंभाषण रूप तथा आत्मस्थिति स्वरूप मौन में से कौन-सा मौन है । भगवन्, आप इस मौन भाव के विषय में मुझे बताइये । क्या इस वाक्-निरोधात्मक मौन से इस आत्मलाभ स्वरूप मौन को विद्वान् प्राप्त कर सकता

है ? लोक में ब्रह्म जिज्ञासु इस मौन का आचरण कैसे करते हैं ? कृपा करके मेरे इन प्रश्नों का यथावत् उत्तर दीजिए ॥ १ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

सनत्सुजात उवाच—

यतो न वेदा मनसा सहैनमनुप्रविशन्ति ततः स मौनम् ।
यत्रोत्थितो वेदशब्दस्तथाऽयं स तन्मयत्वेन विभाति राजन् ॥२॥

शा० भा०—यत इति । यतो यस्माद्वेदा मनसा सह एनं परमात्मानं न प्रविशन्ति । तथा च श्रुतिः "यतो वाचो निवर्तन्ते" इति । ततस्तस्मादेव कारणात् स एव वाचामगोचरः परमात्मा मौनम् । यद्येवं किंलक्षणस्तर्हि परमात्मा ? तत्राह—यत्रोत्थितो वेदशब्दः—यस्मिन्नर्थे निमित्तभूते समुत्थितो वेदशब्दः, शास्त्रकारणं ब्रह्मेत्यर्थः । अथवा यस्मिन् संवेदनाख्ये उत्थितो वाचकत्वेन प्रवृत्तो वेदशब्द इत्यर्थः । तथा च वेदशब्दप्रतिपाद्यः संविद्रूपोऽयं परमात्मा । यदि वाचामगोचरः परमात्मा, कथमेतदवगम्यते संविद्रूपः परमात्मेति ? । तत्राह परमात्मा तन्मयत्वेन ज्योतिर्मयत्वेनैवास्माकं विभाति राजन् । एवमेवास्मदनुभवो नात्राविश्वासः कर्तव्य इत्यर्थः । अथवा श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणादिषु ज्योतिर्मयत्वेन प्रतीयते । तथा च श्रुतिः—"तद्देवा ज्योतिषाम्" इति । तथा भगवान्—

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते ॥ इति ॥ २ ॥

नील०—पञ्चानामपि प्रश्नानां तन्त्रेणोत्तरमाह—यत इति । यस्माद्धेतोः, प्रत्यंगात्मानं मनसा सह वेदा न अनुप्रविशन्ति । "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति वाङ्मनसातीतत्वश्रुतेः । ततो हेतोर्मौनमित्येतन्नामेत्यर्थः । वाङ्मनसातीतपदप्राप्तिर्मौनस्य प्रयोजनम् । तच्च वागादिबाह्येन्द्रियनिग्रहरूपं निग्रहरूपम् । तेन च क्रमाद् बाह्याभ्यन्तरप्रपञ्चयोरभानम् । तेन च अभानेन वाङ्मनसातीतं पदमिति प्रश्नचतुष्टयस्योत्तरमुक्तं भवति ।

पञ्चमप्रश्नस्योत्तरमाह—यत्रोत्थित इति । यत्र अधिष्ठाने भूमब्रह्मात्मनि शब्दः, तथा अयमिति लौकिकशब्दश्च उत्थितः क्षेत्रे अंकुर इव, समुद्रे तरङ्ग इवाविर्भूतः । स भूतात्मा तन्मयत्वेन शब्दमयत्वेन विभाति प्रकाशते हे राजन् ।

अयं भावः—वेदशब्देन वेदस्य सारतरः प्रणवः । "भूरित्येव ऋग्वेदादजायत भुव इति यजुर्वेदात्, स्वरिति सामवेदात्, तानि शुक्राण्यभ्यतपत्तेभ्योऽभितप्तेभ्यस्त्रयो वर्णा अजायन्ताकार उकारो मकार इति तानेकधा समभरत्तदेतदोम्" इति ब्राह्मणात् । तस्य च प्रणवस्य "ॐ इत्येतदक्षरमिदं सर्वम्" इति सार्वात्म्य

तन्मात्राणां च अकारोकारमकाराणां क्रमात्स्थूलसूक्ष्मकारणप्रपञ्चवाचकानां वाच्यवाचकयोरभेदात् पूर्वंपूर्वस्य उत्तरोत्तरत्र प्रविलापने गुरूक्तयुक्त्या क्रियमाणे स्थूलस्य जगतः सूक्ष्मे लवणोदकन्यायेन प्रविलयो भवति। तथा सूक्ष्मस्य कारणे कारणस्य तुरीयेऽर्धमात्रवाच्येऽमात्राख्ये "शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते" इति श्रुतेः। गलिताखिलद्वैतभाने वाङ्मनसातीते प्रविलयो भवति। अतः प्रणवाख्यशब्दमयत्वेन तद्द्वारा वाङ्मनसातीतं वस्तु भातीति युक्तम् इति ॥ २ ॥

शब्दार्थः—राजन्=हे राजन्! यतः=जिससे कि, वेदाः=सभी वेद, मनसा मन के सहित, एनम्=परब्रह्म को, न=नहीं, अनुप्रविशन्ति=जान सकते हैं, ततः=इसी से, मौनम्=मौन यही है, तथा=और, अयम्=यह वेदशब्दः=शब्दात्मक वेद, यत्र=जिसमें, उत्थितः=अंकुरित होता है। सः=वह ब्रह्म, तन्मयत्वेन=तन्मय होने से, विभाति=भासित होता है ॥ २ ॥

सरलार्थः—सनत्सुजातजी ने कहा—हे राजन्. जहां से मन के सहित वाणी रूप वेद उस ब्रह्म में प्रवेश नहीं कर पाते अर्थात् लौट आते हैं अर्थात् जो वाणी और मन से अगोचर है (यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह) अतएव उसी ब्रह्म को यहाँ मौन कहा गया है। उसी परब्रह्म परमात्मा से वैदिक एवं लौकिक शब्द समूह प्रकट हुआ है अर्थात् यही ब्रह्म शास्त्र की योनि-उत्पत्ति स्थान है अथवा उसी के द्वारा उस मौन रूप ब्रह्म का ज्ञान होता है। श्रुति कहती है—तस्मान्निश्वसिताः वेदा। उस परमेश्वर का तन्मयतापूर्वक ध्यान करने से वे प्रकाश में आते हैं। तात्पर्य यह है कि वाङ्मनसातीत उस परब्रह्म की अनुभूति तभी होती है जब पुरुष श्रवण, मनन, एवं निदिध्यासन द्वारा बार-बार आत्म-चिन्तन करते हुए निर्विकल्पक समाधि को प्राप्त हो जाता है। वही मौनावस्था ब्राह्मी स्थिति है ॥२॥

इदानीं वेदस्वभावपरिज्ञानाय प्राह धृतराष्ट्रः—.

धृतराष्ट्र उवाच—

ऋचो यजूंष्यधीते यः सामवेदं च यो द्विजः।
पापानि कुर्वन्पापेन लिप्यते न स लिप्यते ॥ ३ ॥

शा० भा०—ऋच इति। यः पापानि कुर्वन् ऋग्वेदादीनधीते स तेन वेदाध्ययनेन पूयते न वा?। एतद्वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

नील०—ननु यदि वेदशब्दमयत्वेन तद्द्वारा वाङ्मनसातीतं पदं भाति, तज्ज्ञानाच्च "यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेतैवं हास्य सर्वे पाप्मानः प्रदूयन्ते" इति श्रुतेः सर्वपापनाशश्च भवति, तर्हि मौनहीनस्यापि ऋगाद्यभ्यासेन तदुभयं भविष्यतीत्याशङ्कते ऋच इति ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—यः=जो, द्विजः=ब्राह्मण, पापानि=पापकर्मों को, कुर्वन्=करता हुआ, ऋचः = ऋगवेद, यजूंषि = यजुर्वेद, च = एव, यः=जो, सामवेदम्=सामवेद को, अधीते=पढ़ता है। सः=वह, पापेन=पाप से, लिप्यते=लिप्त होगा, वा=या, न=नहीं लिप्यते=लिप्त होगा ॥ ३ ॥

सरलार्थः—धृतराष्ट्र ने प्रश्न किया—भगवन्, जो ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद का ज्ञाता है फिर भी जो पाप करता है तो क्या वह पुरुष पाप से लिप्त होता है या नहीं? ॥ ३ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

सनत्सुजात उवाच—

नैनं सामान्यृचो वाऽपि यजूंषि च विचक्षण।
त्रायन्ते कर्मणः पापान्न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम् ॥ ४ ॥

शा० भा०—नैनमिति। यः पापानि कुर्वन् ऋग्वेदादीन् अधीते नैनं प्रति-षिद्धचारिणम् ऋग्वेदादयो वेदाः पापात्कर्मणः त्रायन्ते न रक्षन्ति। न ते मिथ्या ब्रवीम्यहम्, एवमेवैतत्, नात्राविश्वासः कर्तव्य इत्यर्थः ॥ ४ ॥

नील०—अविचक्षणं वाङ्मनसोर्निग्रहासमर्थम् ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—विचक्षण=धीमन्! सामानि च=सामवेद और, ऋचः=ऋग्वेद और यर्जूषि=यजुर्वेद, वापि=भी, एनम्=इस पापात्मा को, पापात् कर्मणः=पाप कर्म से न=नहीं, त्रायन्ते=रक्षा कर सकते हैं, ते=तुमसे, मिथ्या=झूठ, अहम्=मैं, न=नहीं ब्रवीमि=कह रहा हूँ ॥ ४ ॥

सरलार्थः—भगवान सनत्सुजात बोले—राजन्, मैं तुम्हारे इस प्रश्न के विषय में कुछ भी मिथ्या वचन नहीं कहूँगा। जो भी पुरुष पापाचरण करता है चाहे वह ऋक्, यजुः और साम का विशिष्ट ज्ञाता ही क्यों न हो, वे उस अज्ञानी की उस पाप कर्म से रक्षा नहीं कर सकते ॥ ४ ॥

किं कुर्वन्ति चेत्, तत्राह—

न छन्दांसि वृजिनं तारयन्ति मायाविनं मायया वर्तमानम्।
छन्दांस्येनं प्रजहत्यन्तकाले नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥५॥

शा० भा०—न छन्दांसीति। छन्दांसि ऋगादयो वेदा एनं वृजिनं धर्म-नारितकं पापकारिणम् अधीतवेदवेदाङ्गमपि मायाविनं धर्मध्वजं मायया वर्तमानं मिथ्याचारिणं न तारयन्ति न रक्षन्ति। किं करिष्यन्तीति चेत्—यथा शकुन्ताः पक्षिणो जातपक्षाः सन्तो नीडं स्वाश्रयं त्यजन्ति, एवं छन्दांसि अन्तकाले मरण-काले एनं स्वाश्रयभूतं प्रजहन्ति परित्यजन्ति ॥ ५ ॥

नील०—छन्दांसि वेदाः वृजिनात् पापात्। ननु "अथागमो यां यां देवतां निराह तस्यास्तस्यास्ताद्भाव्यमनुभवति" इति वचनात्, "यं यं वाऽपि स्मरन्भावम्" इति स्मृतेश्च नित्याभ्यासाद् अन्तकाले यद्दैवत्यं मन्त्रं स्मरति तद्देवताताद्भाव्यमस्य भविष्यति इति किं वाङ्मनसनिग्रहरूपेण मौनेन इत्याशङ्क्याह—नीडमिति। मौनाभावे अन्तकाले छन्दांस्येव न स्फुरन्तीत्यर्थः ॥ ५ ॥

शब्दार्थः - छन्दांसि=सारे वेद, मायया=छलपूर्वक, वर्तमानम्=व्यवहार करनेवाले, मायाविनं=मायावी धूर्त को, वृजिनात्=पाप के दल-दल से, न=नहीं, तारयन्ति=तार सकते हैं और, जातपक्षाः=पंख निकलने पर, शकुन्ताः=पक्षी के बच्चे, इव=जैसे, नीडम्=घोसला को, छन्दांसि=सारी ऋचाएँ, एनम्=इसको, अन्तकाले=प्राण निकलते समय, प्रजहति=त्याग देती हैं ॥ ५ ॥

सरलार्थः—वेद प्रतिपादित परब्रह्म के स्वरूप को जानने पर भी जो कपटपूर्वक धर्म को आचरण करता है अर्थात् शरीरोध्यासपूर्वक ही कर्मों को करता है, उस मिथ्याचारी का वेद पापों से उद्धार नहीं करते। जैसे पंख निकल आने पर पक्षी अपना घोंसला छोड़ देते हैं उसी प्रकार अन्तकाल आने पर वेद भी उसका परित्याग कर देते हैं ॥ ५ ॥

एवमुक्तः प्राह धृतराष्ट्रः—

न चेद्वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ता विचक्षण।
अथ कस्मात्प्रलापोऽयं ब्राह्मणानां सनातनः ॥ ६ ॥

शा० भा०—न चेदिति। 'कर्मोदय' (अ० १ श्लो० १) इत्यादिना नित्यानां काम्यानां च पितृलोकादिप्राप्तिहेतुत्वेन संसारानर्थहेतुत्वस्य दर्शितत्वात् प्रतिषिद्धस्य कर्मणो नरकहेतुत्वेन संसारानर्थहेतुत्वस्य च दर्शितत्वात् न वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ताश्चेद, अथ कस्माद्धेतोरयं प्रलापः वेदाध्ययनादिरूपः। संसारानर्थहेतुत्वेन वेदाध्ययनतदर्थविचारतदर्थानुष्ठानानि न कर्तव्यानि इत्यर्थः ॥ ६ ॥

नील०—धर्मं स्वाभाविकम्—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥

इति गीतासूक्तं विना, प्रलापः—

"ऋग्यजुःसामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते"।

"यावतीर्वै देवतास्ताः सर्वा वेदविदि ब्राह्मणे वसन्ति" इति ब्राह्मणानां माहात्म्यप्रख्यापकोऽनर्थको वाक्यसन्दर्भः। प्रवृत्त इति शेषः। सनातनोऽनादिः ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—विचक्षण=हे प्राज्ञ, चेत्=यदि, वेदाः=चारों वेद, वेदविदं= को, त्रातु=रक्षा करने में, न=नहीं, शक्ताः=समर्थ हैं, अथ=तब, कस्मात्=किस ब्राह्मणानां=ब्राह्मणों का, अयम्=यह, सनातनः=पुरातन, प्रलापः=वेदाध्ययना प्रलाप है ?

सरलार्थः—धृतराष्ट्र पुनः जिज्ञासा करते हुए पूछते हैं—भगवन्, यदि पूर्वक आचरण न करनेवाले पुरुष की वेद रक्षा करने में समर्थ नहीं है, तो "ऋ सामभिः पूतो ब्रह्मलोके महीयते" इत्यादि श्रुतिवचन द्वारा ब्राह्मणों की स्थापित की गयी है - यह चिरकालीन प्रलाप क्यों चला आ रहा है ? इस तो इन श्रुति वाक्यों की व्यर्थता सिद्ध हो जाएगी और केवल प्रलाप मा जायेंगे। इन पर कौन विश्वास करेगा ? ॥ ६ ॥

अत्रेदयं प्रलापो यद्येष एव वेदार्थः स्यात्, अन्य एव स्वर्गादिः परमपुरु मोक्षाख्यो वेदार्थः, इतरस्य च कर्मराशेः, उपासनायाश्च तत्प्राप्तिसाधन साधनान्तःकरणशुद्धिसाधनत्वेन पारम्पर्येण पुरुषार्थत्वादेव वेदप्रतिपाद्य तथाहि—तमेव परमात्मानं परमपुरुषार्थं दर्शयति वेदः—

"अनन्दा नाम ते लोका अन्धेन तमसाऽऽवृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति अविद्वांसोऽबुधा जनाः॥"

इति—स्वर्गादिलोकानाम् अपुरुषार्थत्वमनानन्दात्मकत्वम् अविद्यावद्वि स्त्वेन दर्शयित्वा,

"आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पुरुषः।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत्" इति—

आत्मविदः कृतार्थत्वं दर्शयित्वा,

"इहैव "सन्तोऽथ विद्मस्तद्वयं न चेदवेदीन्महती विनष्टिः। य एत मृतास्ते भवन्ति अथेतरे दुःखमेवापि यन्ति" ॥ इति—

आत्मविदोऽमृतत्वप्राप्तिम् अनात्मविदः आत्मविनाशमनर्थप्राप्तिं च दर्शयि

"यदेतमनुपश्यत्यात्मानं देवमञ्जसा। ईशानं भूतभव्यस्य न विजुगुप्सते"

इत्यादिभिर्वाक्यैः तत्स्वरूपतदर्थं तद्दर्शनतत्फलानि भूयो भूयो दर्शयि 'कथमेनं रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाणं विषयाभिसक्तं मोक्षयित्वा परम परमात्मनि पूर्णानन्दे स्वाराज्ये मोक्षाख्ये स्थापयिष्यामि' इति मत्वा तत्प्रा साधनज्ञानसाधनविविदिषासाधनत्वेन यज्ञदानादीनि दर्शयति वेदः—

"तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसाऽनाशके" इति।

तस्मात्तदर्थत्वेनैव यज्ञादीनां पुरुषार्थत्वम्। इतरत्र तु पुनः स्वर्गादौ श्येन-यागादीनामिवापुरुषार्थत्वम्, संसारानर्थहेतुत्वात्। तथा च श्रुतिः—

"प्लवा ह्येते अदृढा यज्ञरूपा अष्टादशोक्तमवरं येषु कर्म। एतच्छ्रेयो येऽभि-नन्दन्ति मूढा जरामृत्यू ते पुनरेवापियन्ति" इति।

यस्मादेवं मोक्षतत्साधनप्रतिपादकत्वेन संसारानर्थनिवृत्तिहेतुत्वं वेदानाम्, तस्माद् वेदा वेदविदं त्रातुं शक्ता एवेत्येतत्सर्वमभिप्रेत्याह श्लोकत्रयेण—

तत्र प्रथमेन परमपुरुषार्थं परमात्मानं दर्शयति—

सनत्सुजात उवाच—

तस्यैव नामादिविशेषरूपैरिदं जगद्भाति महानुभाव।
निर्दिश्य सम्यक् प्रवदन्ति वेदास्तद्विश्ववैरूप्यमुदाहरन्ति ॥७॥

शा० भा०—तस्यैवेति। तस्यैव परमात्मनो मायापरिकल्पितैर्नामादिविशेष-रूपैरिदं जगद्भाति हे महानुभाव। कथमेतदवगम्यते तस्यैव नामादिविशेषरूपै-रिदं जगद्भातीति ?। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" इति मायानिर्मितं बहुरूपं निर्दिश्य तस्यैव सम्यग्रूपम् "तदेतद्ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" इत्यादिना प्रवदन्ति वेदाः। "द्वे वाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं चामूर्तं च" इत्यादिना तस्यैव मूर्तामूर्तात्मकम् आत्मवज्जगत्स्वरूपं निर्दिश्य तस्यैव सम्यग्रूपम् "नेति नेति" इत्यादिना प्रवदन्ति वेदाः। तथा "आत्मन आकाशः सम्भूतः" इति वियदादि धरित्र्यन्तं तस्यैव कार्यं निर्दिश्य कोशोपन्यासमुखेन तस्यैव सम्यग्रूपम् "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादिना प्रवदन्ति वेदाः। तथा—"अधीहि भगव" इत्यादिना नामादिप्राणान्तं जगन्निर्दिश्य "यत्र नान्यत्पश्यति" इत्यादिना तस्यैव सम्यग्रूपं भूमानं तमसः परं स्वे महिम्नि व्यवस्थितं प्रवदन्ति वेदाः। न केवलं वेदा अपितु मुनयोऽपि तत् ब्रह्म विश्व वैरूप्यं विश्वरूपविपरीतस्वरूपम् उदाहरन्ति। तथा चाह भगवान्पराशरः—

प्रत्यस्तमितभेदं यत्सत्तामात्रमगोचरम्।
वचसामात्मसंवेद्यं तज्ज्ञानं ब्रह्मसंमितम् ॥ इति।
तच्च विष्णोः परं रूपमरूपाख्यमनुत्तमम्।
विश्वस्वरूपवैरूप्यलक्षणं परमात्मनः ॥ इति च ॥ ७ ॥

नील०—उत्तरमाह—तस्येति। "अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेव तद्यदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः" इत्यादिश्रुतेः। यस्य प्रलापोऽयं वेदशास्त्रादिप्रपञ्चस्तस्यैव पर-मात्मनः स्वयम् अव्याकृतस्य नामरूपात्मना व्याकृतस्य स्वरूपम् इदं जगद्भाति नामादिविशेषरूपैरिति। इत्थं भावे तृतीया, नामरूपात्मको यो विशेषस्तदात्मकस्वरूप-

स्येत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—"तद्धेद तर्ह्यव्याकृतमासीत्तन्नामरूपाभ्यामेव व्याक्रियत
नामाऽयमिदंरूपः" इति । हे महानुभाव इति निर्दिश्य "द्वेवाव ब्रह्मणो रूपे मूर्तं च
इत्यादिना कृत्स्न दृश्यमदृश्यं च विश्वं ब्रह्मरूपत्वेन निर्दिश्य "ब्रह्मैवेदम्" इति सम्य
प्रवदन्तीत्यध्यारोपप्रसङ्गे । अपवादप्रसङ्गे च तत् ब्रह्म विश्वस्मान्मूर्तामूर्तात् विरूप
वैरूप्य विलक्षणम् उदाहरन्ति वेदा एव "अथात आदेशो नेति नेति नह्येतस्मादन्
त्परमस्तीति नेति नेति" इत्यादयः । अत्र 'नेति नेति' इति नञ्द्वयेन प्रवृत्ते मूर्ता
निषिद्ध्य शून्यशेषत्वे प्रसक्ते एतस्मादात्मनोऽन्यत्परं कार्यं कारणं वाऽतिरिक्तं नास्ती
हेतोर्नेतीत्युच्यते नतु शून्यमवशिष्यत इति श्रुत्यैव ब्रह्मणो विश्ववैरूप्यमुक्तम् । तत
यत्प्रभवत्वेन वेदो मान्यस्तं वेदोक्तमार्गाननुष्ठानेनावजानतो वेदाध्ययनमपि निष्
भवति । भगवदाज्ञाभङ्गदोषादिति भावः । श्रूयते च—"न तस्य वाच्यविभागोऽस्ति
इति । देहाद्यात्मबुद्ध्या परमात्मा नास्तीति मत्वा तं त्यजतः वेदोच्चारणमात्रसंभवो
फलांशो नास्तीति श्रुत्यर्थः ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—महानुभाव ! तस्य=उस परमात्मा के आश्रित, एव=ही, नामादि
विशेषरूपैः=नाम आदि विशेषरूपों द्वारा, इदम्=यह, जगत्=संसार, भाति=प्रती
हो रहा है । तथा=और, वेदाः=वेद, सम्यक्=अच्छी तरह, निर्दिश्य=निर्दिष्ट करके
प्रवदन्ति=समझाते हैं । तत्=और उसे, विश्ववैरूप्य=विश्व से बिलक्षण होने
उदाहरन्ति=उदाहरण प्रस्तुत करते हैं ॥ ७ ॥

सरलार्थः—सनत्सुजातजी बोले—हे महानुभाव, यह सम्पूर्ण जगत् परमा
परमात्मा के नाम आदि विशेष रूपों से प्रतिमासित हो रहा है, वस्तुतः उससे भि
इस जगत् में कुछ भी नहीं है । यह सम्पूर्ण जगत् मिथ्यारूप है, प्रतीति मात्र है
एक ही ईश्वर विविध रूपों में प्रकाशमान होता है । श्रुति कहती है—"इन्द्रो
मायाभिः पुरुरूप इयते" । इस प्रकार अनेक ढंगसे श्रुति वेद उस परमात्माके स्वरू
का नर्देश करते हैं परन्तु इस बात का भी वे प्रतिपादन करते है कि परमात्मा
का स्वरूप इस विश्व से सर्वथा विलक्षण है । वह वाङ्मनसातीत होने के कार
सर्वथा अनिर्वचनीय है ॥ ७ ॥

इदानीमीश्वरार्थमनुष्ठीयमानानां तत्प्राप्तिसाधनज्ञानायेक्षितशुद्धिद्वारेण
म्पर्येण पुरुषार्थत्वम्, अन्येषां संसारानर्थहेतुत्वेनापुरुषार्थहेतुत्वेनापुरुषार्थत्वं
यति श्लोकद्वयेन—

तदर्थमुक्तं तप एतदिज्या ताभ्यामसौ पुण्यमुपैति विद्वान् ।
पुण्येन पापं विनिहत्य पश्चात् स जायते ज्ञानविदीपितात्मा ॥८॥

शा० भा०—तदर्थमिति। यद्विश्वरूपविपरीतरूपं ब्रह्म 'तदर्थमुक्तं' वेदेन। किम्?। तपः कृच्छ्चान्द्रायणादि, इज्या ज्योतिष्टोमादि। किं ततो भवतीति चेत्—

ताभ्याम् इज्यातपोभ्याम् असौ पूर्वोक्तविनियोगज्ञः ईश्वरार्थं कर्मानुतिष्ठन् पुण्यमुपैति प्राप्नोति कर्मजन्यापूर्वसंयुक्तो भवति। तेन पुण्येन पापं विनिहत्य क्षपयित्वा पश्चादुत्तरकालं स क्षपिताशेषकल्मषो जायते ज्ञानविदीपितात्मा ज्ञानप्रकाशितचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मस्वरूपो भवति ॥ ८ ॥

नील०—तदर्थमिति। यद् विश्वस्माद्विलक्षणं ब्रह्म प्रोक्तं तदर्थं तत्प्राप्त्यर्थम् एतत् प्रसिद्धं तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि, ध्यानधारणादि च उक्तम् "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" इति श्रुत्या प्रोक्तम्। तथा एषा, इज्या यागादिरपि तदर्थमेव। तत्र क्रममाह— ताभ्यामिति। इज्यातपोभ्यां पुण्योत्पत्तिः, पुण्येन पापनाशः, निष्पापस्तु ज्ञानेन ब्रह्माकारया चेतोवृत्त्या विदीपितात्मा प्रकाशितात्मतत्त्वो भवति। ८ तेन इज्यातपसोः साक्षान्मोक्षहेतुत्वनिरसनेन ज्ञानकर्मसमुच्चयपक्षो निर्मूलो वेदितव्यः ॥८॥

शब्दार्थः—(वेदों ने) तदर्थम्=उसकी प्राप्ति के लिए, तपः=तप, इज्या=यज्ञ, उक्तम्=बताया है। पण्डितः=विद्वान् निष्कामी, पुण्येन पापम् विनिहत्य=नष्ट करके, सः=वह, ज्ञानविदीपितात्म =ज्ञानप्रकाशस्वरूप, जायते=हो जाता है ॥ ८ ॥

सरलार्थ—वेद में जो तप, यज्ञादि के अनुष्ठान का प्रतिपादन किया गया है, वह भी उस परब्रह्म की प्राप्ति के साधनरूप में ही किया है। इन तप और यज्ञों के द्वारा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् पुण्य को प्राप्त करता है। वह इन यज्ञादि कर्मों को निष्काम भाव से करता हुआ ईश्वर को अर्पित करता है। उससे वह अपने संचित पापों को नष्ट कर देता है, तब उसका अन्तःकरण ज्ञानसे प्रकाशित हो जाता है ॥८॥

ज्ञानेन चात्मानमुपैति विद्वान्नचान्यथा वर्गफलानुकाङ्क्षी।
अस्मिन्कृतं तत्परिगृह्य सर्वममुत्र भुङ्क्ते पुनरेति मार्गम् ॥९॥

शा० भा०—अथ ज्ञानेन चात्मानं परमात्मानमुपैति प्राप्नोति विद्वानात्मवित् अन्यथा पुनरीश्वरार्थं कर्माननुष्ठानेनाक्षपिताशेषकल्मषो ज्ञानी न भवति। तदा वर्गफलानुकाङ्क्षी इन्द्रियफलानुकाङ्क्षी स्वर्गादिफलानुकाङ्क्षी सन्, अस्मिन् लोके कृतं तद्यज्ञादिकं परिगृह्य सर्वममुत्र परलोके तत्फलमुपभुङ्क्ते। ततः कर्मशेषेण पुनरेति मार्गं संसारमार्गम्। तथा च श्रुतिः—"तस्मिन्यावत्सम्पातमुषित्वा अथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते" इति ॥ ९ ॥

नील०—किम् आत्मतत्त्वप्रकाशेनेत्यत आह— ज्ञानेन चात्मानमुपैतीति। 'आत्मलाभान्नपरं विद्यते'

आत्मानं चेद्विजानीयादयमस्मीति पूरुषः ।
किमिच्छन्कस्य कामाय शरीरमनु सञ्ज्वरेत् ॥

इत्यादिशास्त्रादात्मप्राप्तिरेव परमपुरुषार्थ इति भावः । विपक्षे दोषमा अथेति । अथेति पक्षान्तरे । अन्यथाऽऽत्मज्ञानाभावेनानात्मनि पुरुषार्थत्व वर्गफलानुकाङ्क्षी भवति । वृङ्क्ते आत्मानं स्वस्वविषयोपहारमुखेनावृणोतीति इन्द्रियगणस्तस्य प्रियं फल विषयसुखं तदाकाङ्क्षी सन् अस्मिँल्लोके कृतं कृ पापं वा तत्सर्वं परिगृह्य । "तं विद्याकर्मणी समन्वारभेते पूर्वप्रज्ञा च" इति तम् उत्क्रामन्तम् इति श्रुतिपदस्यार्थः । अमुत्र स्वर्गे नरके वा तत्फल सुखं दुः भुङ्क्ते । ततः पुनरिमं मार्गं लोकं कर्मशेषेणोपैति ।

'तस्मिन् यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते तस्माल्लोकात्पुनरे लोकाय कर्मणे' इत्यादिश्रुतिभ्यः सपतत्यनेनेति सम्पातः कर्म ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—अथ=तदनन्तर, विद्वान्=वह विद्वान्, ज्ञानेन=ज्ञान द्वारा, नम्=आत्मा को, उपैति=प्राप्त करता है, च=और, अन्यथा=उसके विपरीत, फलानुकाङ्क्षी=स्वर्गादि फल की आकांक्षा रखने वाला, अस्मिन्=इस लो कृतम्=जो कुछ शुभ कार्य किया है, तत्=उसे, परिगृह्य=लेकर, अमुत्र=उस लो सर्वम्=सब, भुङ्क्ते=भोगता है । पुनः=फिर, मार्गम्=मृत्युलोक के मार्ग को, प्राप्त करता है ॥ ९ ॥

सरलार्थः—राजन्, वह विद्वान् पुरुष अन्तःकरण में प्रकाशित ज्ञान परमात्मा को प्राप्त कर लेता है । वह समस्त देहाभिमान को त्याग कर ब्र साक्षात कर लेता है । परन्तु इसके विपरीत जो भोगाभिलाषी हैं अर्थात् उ कर्मों को सकामभाव से करते हैं, जो धर्म, अर्थ और कामरूप त्रिवर्गफल की रखते हैं वे इस लोक में किये हुए सब कर्मों को साथ ले जाकर उन्हें परलो भोगते हैं और कर्म फल के पूर्ण हो जाने के अनन्तर पुनः इस संसार मार्ग में आते हैं अर्थात् जन्म-मृत्यु की परम्परा में आ जाते हैं ॥ ९ ॥

इदानीं विद्वदविद्वदपेक्षया कर्मणां फलवैषम्यमाह—

अस्मिँल्लोके तपस्तप्तं फलमन्यत्र भुज्यते ।
ब्राह्मणानां तपः स्वृद्धमन्येषां तावदेव तत् ॥१०॥

शा० भा०—अस्मिन्निति । अस्मिन् लोके यत् तपस्तप्तं तस्य फलम् अ अमुष्मिँल्लोके भुज्यत इति तावत् सर्वेषां समानम् । ब्राह्मणानां ब्रह्मविदां पु विशेषः—

तपः स्वृद्धम् अदीवसमृद्धं फलवृद्धिर्भवतीत्यर्थः। तथा च श्रुतिः—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति। अन्येषामनात्मविदां वैषयिकाणां तावदेव तन्न समृद्धं भवति; यस्य कर्मणो यत्फलं श्रुतं तावन्मात्रफलसाधनं न फलसमृद्धिहेतुर्भवतीत्यर्थः ॥ १० ॥

नील०—नन्वेवं तर्हि "स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः तद्धि तपस्तद्धि तपः" इत्यादरेणाध्ययनाध्यापनयोर्मुख्यतपस्त्वश्रवणादस्ति तयोरपि मोक्षहेतुत्वं तत्कथमुच्यते 'न छन्दांसि वृजिनात्तारयन्ति' इति मत्वा विद्वदविद्वत्तपसोर्भेदमाह—अस्मिन्निति। अविदुषा तपसः फलम् आमुष्मिकं, विदुषां ब्राह्मणानां तु इमे एव लोकाः फलदा ज्ञानं दृष्टफलमित्यर्थः। कीदृशानां, धात्वे तपसि तिष्ठताम्। धात्वे—धातव्ये। "कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः" इति धाञस्त्वन्। अवश्यकर्तव्ये इत्यर्थः। तच्च: 'शमो दमस्तपश्शौचम्' इति प्रागेवोक्तम्। वृद्धे तपसीति पाठे स्पष्टोऽर्थः॥१०॥

शब्दार्थः—अस्मिन् लोके=इस लोक में, ततम् तपः=किया गया तप, फल=फल, अन्यत्र=दूसरे लोक में, भुज्यते=भोगा जाता है, परन्तु=किन्तु, ब्राह्मणानाम्=ब्रह्मज्ञानियों का. तपः=तप यहाँ ही, स्वृद्धम्=विकसित होता है। अन्येषां=और अन्य लोगों का, तत्=वह तप, तावत्=थोड़े काल में, एव=ही (समाप्त हो जाता है) ॥१०॥

सरलार्थः—इस लोक में जो तप, यज्ञादि का अनुष्ठान सकामभाव से किया जाता है, उसका फल देव लोक में भोगा जाता है परन्तु जो ब्रह्मवेत्ता तत्त्वज्ञानपूर्वक निष्काम भावना से तपादि करते हैं वे इसी लोक में उसके आत्म साक्षात्कार रूप महान् फल का उपभोग करते हैं। ब्रह्मज्ञानियों का यह फल अनन्त काल का है इसके विपरीत सकाम उपासकों का थोड़े ही समय में समाप्त होने वाला होता है ॥ १० ॥

श्रुत्वैवमाह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच—

कथं समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम्।
सनत्सुजात तद् ब्रूहि कथं विद्यामहं प्रभो ॥११॥

शा० भा०—कथमिति। श्लोकोऽयं स्पष्टार्थः ॥ ११ ॥

नील०—समृद्धं विदुषः, असमृद्धम् अविदुषश्च, एकमेव तपः केवलं शुद्धं सत्कथ द्वैविध्यं प्राप्नोतीति पृच्छति—कथमिति ॥ ११ ॥

शब्दार्थः—सनत्सुजात=हे सनत्सुजात, केवलम्=केवल, तपः=तप ही, समृद्धम्=सर्व समर्थ, कथम्=कैसे, भवति=हो जाता है, प्रभो=हे भगवान्! अहम्=मैं, कथम्=कैसे, विद्याम्=समझ सकूँ, तत्=वह, ब्रूहि=बताइए ॥ ११ ॥

सरलार्थः—धृतराष्ट्र ने कहा हे मुनिवर सनत्सुजात, क्या विशुद्ध भावयु केवल तप भी अत्यन्त समृद्ध होकर मोक्षरूपी समृद्धि को प्राप्त कराने में समर्थ सकता है ? वह तप कैसा होता है ? कृपया आप मुझे ऐसे बतावें जिससे हमें सम में आ जाय ॥ ११ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान्सनत्सुजातः—

सनत्सुजात उवाच—

> **निष्कल्मषं तपस्त्वेतत्केवलं परिचक्षते ।**
> **एतत्समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति नान्यथा ॥१२॥**

शा० भा०—निष्कल्मषमिति । यदेतन्निष्कल्मषं तपः, तत्केवलं परिचक्ष केवलं बीजमित्युक्तं सर्वस्यास्य प्रपञ्चस्य बीजं निमित्तं यत्तात्केवलमित्युक्तम् आह, उशनाः—

> गुणसाम्ये स्थितं तत्त्वं केवलं त्विति कथ्यते ।
> केवलादेतदुद्भूतं जगत्सदसदात्मकम् ॥ इति ।

तदेव केवलं तपः समृद्धमप्यृद्धं भवति । नान्यथा—यदा निष्कल्मषं भवति सकल्मषं स्यात्तदा समृद्धमप्यृद्धं न भवति ॥ १२ ॥

नील०—उत्तरमाह—निष्कल्मषमिति । कल्मषं—कामः, श्रद्धादिराहित्यं च तद्रहितं तपः केवलं कैवल्यसाधनत्वात्केवलमित्युच्यते । तदेव श्रद्धाद्युपेतमपि सका चेत्समृद्धमित्युच्यते । यत्तु केवलं दम्भार्थमेव क्रियते तदृद्धम् । तथा च श्रुतौ—"यदे विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति" इति तरप्प्रत्ययश्रुतेर्विद्यादि हीनस्यापि तपसो वीर्यवत्त्वावगमादृद्धत्वं गम्यते ॥ १२ ॥

शब्दार्थः – एतत्=वह, तपः=तप, निष्कल्मषम्=सम्पूर्ण दोषों से रहित; केवलम् मोक्षसाधनभूत, परिचक्षते=कहा जाता है । एतत्=वही तप, समृद्धं=विशुद्ध, ऋद्धम् फल में भी अधिकतम्, भवति=होता है, अन्यथा न=केवल तप से भिन्न कोई दूसरा तप नहीं होता ॥ १२ ॥

सरलार्थः – सनत्सुजात बोले–राजन्, तुमने जिस तप के विषय में पूछा है वह तप सब प्रकार से निर्दोष होता है । वह सम्पूर्ण ऐहिक एवं पारलौकिक भोग वासनाओं से रहित होता है, इसीलिए उसे विशुद्ध कहा जाता है । इस प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनपूर्वक किया गया विशुद्ध एवं गुरुतर तप सकाम तप की अपेक्षा फल की दृष्टि से भी अधिक समृद्ध होता है अर्थात् परमार्थ पद रूप अनन्त फल को वह प्राप्त कर लेता है ॥ १२ ॥

तदेव प्रशंसति--

तपोमूलमिदं सर्वं यन्मां पृच्छसि क्षत्रिय ।
तपसा वेदविद्वांसः परेत्यामृतमाप्नुयुः ॥१३॥

शा० भा०—तपोमूलमिति । स्पष्टार्थः ॥ १३ ॥

नील०—तप एव प्रशंसति—तप इति । इदं सर्वं भोग्यं तपोमूलं तपः-प्राप्यम् । परम् अमृतं मुक्तिम् ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—क्षत्रिय—हे राजर्षि ! माम्=मुझसे, पृच्छसि=जो पूछ रहे हो इदम्=यह, सर्वम्=सभी जगत्-विभव, तपोमूलम्=तप से ही समृद्ध हुआ है । तु=और, वेदविद्वांसः=वेदवेत्ता लोग, तपसा=तप से, परम्=श्रेष्ठ, अमृतम्=अमरपद, आप्नुयुः=प्राप्त करते हैं ॥ १३ ॥

सरलार्थ—हे क्षत्रिय, तुम जिस तप के विषय में मुझसे पूछ रहे हो, वह तप ही समस्त चराचर विश्व का मूल है । श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् इस निष्काम तप से ही परम अमृतत्व को प्राप्त करते हैं ॥ १३ ॥

श्रुत्वैवमाह राजा—

धृतराष्ट्र उवाच—

कल्मषं तपसो ब्रूहि श्रुतं निष्कल्मषं तपः ।
सनत्सुजात येनेदं विद्यां गुह्यं सनातनम् ॥ १४ ॥

कल्मषमिति । अस्यार्थः—

शा० भा०—निष्कल्मषं तपश्चैतत्केवलं परिचक्षते ।

इति श्रुतस्य तपसः कल्मषं ब्रूहि हे सनत्सुजात, येन निष्कल्मषेण तपसेदं गुह्यं सनातनं ब्रह्माहं विद्यामिति ॥ १४ ॥

नील०- ननु निष्कल्मषं तपः श्रुतं तत्र किं तत्किल्बिषं यद्रहितेन तपसा सनातनं गुह्यं ब्रह्म विद्यां जानीयाम् इति पृच्छति—कल्मषमिति ॥ १४ ॥

शब्दार्थः--सनत्सुजात ! निष्कल्मषम्=निर्दोष, तपः=तप को, श्रुतम्=सुना, अब तपसः=तप के, कल्मषम्=दोषों को, ब्रूहि=बताइए, येन=जिससे, इदं=इस, गुह्यम्=गोपनीय, सनातनम्=सनातन तत्त्व को, विद्याम्=मैं जान सकूं ॥ १४ ॥

सरलार्थ—धृतराष्ट्र ने कहा—हे भगवन्, आपने जो विशुद्ध निष्काम तप का महत्त्व बताया, उसे मैंने सुना । अब तपस्या के जो दोष हैं, उन्हें मुझे बताइये । जिससे इस सनातन गोपनीय ब्रह्मतत्त्व को जान सकूँ ॥ १४ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

सनत्सुजात उवाच—

क्रोधादयो द्वादश यस्य दोषास्तथा नृशंसानि च सप्त राजन् ।
ज्ञानादयो द्वादश चातताना: शास्त्रे गुणा ये विदिता द्विजानाम् ॥१५॥

शा० भा०—क्रोधादय इति । क्रोधादयो यस्य तपसो द्वादश दोषाः कल्मषाः, तथा नृशंसानि च सप्त हे राजन् यस्य तपसो दोषाः, तथा ज्ञानादयो द्वादश चातताना विस्तीर्यमाणाः शास्त्रे वेदशास्त्रे ये विदिता गुणाः द्विजानां तान् गुणान्, दोषाँश्च वक्ष्यामीत्यभिप्रायः ॥ १५ ॥

नील०—तदेवाह—क्रोधादय इति । क्रोधादिगणो द्वादशकः । दश त्रित्रयोदशेत्यर्थः । तावान् नृशंसवर्गश्च तपसः कल्मषं धर्मादिगुणविरुद्धत्वात्; तद्रहितधर्माद्युपेतन्तु तपो निष्कल्मषं मोक्षहेतुरित्यर्थः । पितॄणां वंशकर्तॄणां मन्वादीनाम् ॥१५॥

शब्दार्थः—राजन् ! यस्य=जिस तपस्या के, क्रोधादयः=क्रोधादि, द्वादश=बारह, दोषाः=दोष, च=और, यथा उसी तरह, सप्त=सात प्रकार के नृशंसानि=घातक हैं, च=और, द्विजानाम्=ब्राह्मणों के लिए, शास्त्रे=शास्त्र में, ये=जो, ज्ञानादयः=ज्ञानादि द्वादश=बारह, गुणाः=गुण, आतताना:=विस्तारपूर्वक, विदिता=कहे गये हैं, उन्हें बता रहा हूँ ॥ १५ ॥

सरलार्थः—भगवान सनत्सुजात ने कहा—हे राजन्, साधक के तप में जो बाधा पहुँचाने वाले दोष हैं वे क्रोध आदि बारह हैं । उसी प्रकार सात घातक दोष भी हैं (यहाँ पाठभेद के अनुसार आचार्य नीलकण्ठ ने तेरह प्रकार के नृशंस मनुष्य बताये हैं) इसके अतिरिक्त मन्वादि शास्त्रों में कथित ब्राह्मणों के धर्म आदि बारह गुण हैं, उन्हें मैं बता रहा हूँ ॥ १५ ॥

क्रोधादीन् दर्शयति—

क्रोधः कामो लोभमोहौ विवित्साऽकृपाऽसूया मानशोकौ स्पृहा च ।
ईर्ष्या जुगुप्सा च महागुणेन सदा वर्ज्या द्वादशैते नरेण ॥१६॥

शा० भा०—क्रोध इति । क्रोधो नाम कामप्रतिघातादुत्पद्यमानस्ताडनाक्रोशनादिहेतुः, कामहानिहेतुकश्चान्तःकरणविक्षोभो गात्रस्वेदकम्पनादिलिङ्गः १ कामः स्त्र्याद्यभिलाषः, २ लोभः परद्रव्येच्छा, न्यायार्जितस्य स्वकीयस्य द्रव्यस्य तीर्थविनियोगासामर्थ्यं वा, ३ मोहः कृत्याकृत्यविवेकशून्यता, ४ विवित्सा विषयरसान्वेत्तुमिच्छा, ५ अकृपा निष्ठुरता, ६ असूया गुणेषु दोषाविष्करणम्, परगुणादिष्वक्षमा वा, ७ मानः आत्मबहुमानत्वम्, ८ शोकः इष्टार्थवियोगजोऽन्तःकरणविक्षोभो, रोदनचिन्तनादिलिङ्गोऽप्रतीकारविषयः ९ स्पृहा विषयभोगेच्छा

१० ईर्ष्या परश्रियामसहिष्णुता, ११ जुगुप्सा परगुणानपह्नोतुमिच्छा, बीभत्सा वा, १२ एते क्रोधादयो द्वादश दोषाः, तपसः कल्मषरूपाः सदा वर्ज्या महागुणेन ब्राह्मणेन—महागुणो ब्रह्मप्राप्तिगुणस्तेन ब्रह्मप्राप्तिलक्षणेन महागुणसमन्वितेन। वर्जनीया इत्यर्थः। उक्तं च नाममहोदधौ—

महद् ब्रह्म इति प्रोक्तं महत्वान्महतामपि।
तत्प्राप्तिगुणसंयुक्तो महागुण इति स्मृतः॥ इति।

अथवा ब्राह्मणानामुत्कृष्टगुणयोगः स्वभावसिद्धः। तथा चोक्तं भगवता—

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्॥ इति॥ १६॥

नील०—क्रोधः, इच्छाप्रतिघातोत्थ आक्रोशताडनादिहेतुर्मनस्तापः १ कामः स्त्र्यभिलाषः, २ लोभो धनव्ययभीरुत्वम्, ३ मोहः कृत्याकृत्याविवेकराहित्यम्, ४ विधित्सा सत्यप्युत्तरोत्तरलाभे पिपासाख्या, अतृप्तिः। धेट् पाने, इत्यस्य रूपम्. ५ अकृपा निर्दयत्वम्, ६ असूया परगुणेषु दोषदर्शनम्, ७ मानः; आत्मनि पूज्यताबुद्धिः, ८ शोकः, इष्टार्थनाशे सति मनोवैकल्यम्, ९ स्पृहा भोग्यवर्गेष्वादरः, १० ईर्ष्या परोत्कर्षासहिष्णुत्वम्, ११ जुगुप्सा परनिन्दा, बीभत्सता वा, १२ मनुष्याणां योगिनां चैते दोषाः सर्वेषामपि वर्ज्या इत्यर्थः॥ १६॥

शब्दार्थः—क्रोधः=क्रोध, कामः=काम, लोभमोहौ=लोभ और मोह, विवित्सा=विषय रस जानने की इच्छा, अकृपा=निष्टुरता, असूया=सद्गुणों में दोषान्वेषण, स्पृहा=भोगेच्छा जुगुप्सा=कुटिलता, महागुणेन नरेण=विद्वान् पुरुष द्वारा, वर्ज्या=त्याज्य हैं॥ १६॥

सरलार्थः—ज्ञान के साधन तप में स्थित ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय को चाहिए कि वह मनुष्यों में रहने वाले (१) काम, (२) क्रोध, (३) लोभ, (४) मोह, (५) चिकीर्षा, (६) निर्दयता, (७) असूया, (८) अभिमान, (९) शोक, (१०) स्पृहा और (१२) निन्दा इन बारह दोषों को सदा त्याग देना चाहिए॥ १६॥

तेषां सदावर्ज्यत्वे हेतुमाह—

एकैकमेते राजेन्द्र मनुष्यं पर्य्युपासते।
लिप्समानोऽन्तरं तेषां मृगाणामिव लुब्धकः॥१७॥

शा० भा०—एकैकमिति। यथा मृगाणामन्तरं छिद्रं लिप्समानो रन्ध्रान्वेषणपरो लुब्धको मृगयुरनुवर्तते। यथा च छिद्रं लब्ध्वा तान् हन्ति, तथा तेषां मनुष्याणां रन्ध्रान्वेषणपरा एते क्रोधादय एकैकं मनुष्यं पर्युपासते। अथवा, मनुष्यान्पर्युपासते, इति पाठः। तस्मिन्, एकैकं पृथक् पृथक् मनुष्यान् पर्यु-

पासत इति योजना। तथा छिद्रं लब्ध्वा तान् हन्ति। तस्मादेतेषु एकोऽपि दो विनाशकारणम्। यस्मादेवं तस्मात्सदा वर्ज्या इत्यर्थः।

उक्तं च हिरण्यगर्भे—

यथा पान्थस्य कान्तारे सिंहव्याघ्रमृगादयः।
उपद्रवकरास्तद्वत् क्रोधाद्या दुर्गमा नृणाम् ॥ इति ॥ १७॥

नील०—एतेषां मध्य एकैकोऽपि मनुष्यं नाशयितुं समर्थः किन्तु कति समुदायः, सर्वसमुदायो वेत्याह—एकैक इति। अन्तरं छिद्रम् ॥ १७॥

शब्दार्थः—राजेन्द्र, तेषाम्=उन, मृगाणाम्=मृगों के, अन्तरं=असावधानी लिप्समानः=इच्छुक, लुब्धकः वधिक, इव=के तुल्य, एते=इन बारहों में, एक एक-एक दोष, मनुष्य=मनुष्य को, पर्य्युपासते=चारों ओर से घेरे रहते हैं ॥१७॥

सरलार्थः—हे नरश्रेष्ठ क्षत्रिय, जिस प्रकार व्याध मृग-वन्य पशुओं को मारने लिए भूख-प्यास को छोड़कर उनको असावधानी के अवसर को देखता हुआ टकी लगाये रहता है, उसी प्रकार इनमें से प्रत्येक दोष मनुष्यों में उचित अ पाकर उस पर आक्रमण कर देते हैं अर्थात् जैसे ही मनुष्य अपनी वास्तविक स्थि से च्युत होता है वे दोष शीघ्र ही अवसर का लाभ उठा लेते हैं और उसे लेते हैं ॥ १७॥

इदानीं नृशंससप्तकमाह—

सम्भोगसंविद्विषमेधमानो दत्तानुतापी कृपणोऽबलीयान्।
वर्गप्रशंसी वनितां च द्वेष्टा एते परे सप्त नृशंसरूपाः ॥१८॥

शा० भा०—सम्भोगेति। सम्भोगे विषयसम्भोगे संविद् बुद्धिर्यस्य वर्तते सम्भोगसंवित् १ विषमिव परेषाम् उपद्रवंकृत्वा एधमानो वर्द्धमानः, अथ द्विषमेधमान इति पाठान्तरम्। द्विषं द्वेष्य कर्म कृत्वा प्राणिनां तद्द्वारेण एधमान इति, २ दत्तानुतापी दानं दत्त्वा अनुतापं करोतीति दत्तानुतापी, ३ यत्किञ्चिदर्थलवलाभमात्रलोभात्सर्वावमानं सहते यः स कृपणः, ४ अबलीयान् ज्ञानबलवर्जितः, ५ वर्गप्रशंसी इन्द्रियवर्गप्रशंसी, ६ वनितां च द्वेष्टा, अनन्यशरणां भार्यां यो द्वेष्टि, ७ एते परे पूर्वोक्तेभ्यः क्रोधादिभ्यः सप्त नृशंसरूपाः ॥ १८॥

नील०—सम्भोगः स्त्रीसंगादिः, तद्विषया संवित् सम्मतिः, तदेव पुरुषार्थ या बुद्धिः १ द्विषं द्वेषम् एधमानो वर्धयन्, २ दत्तानुतापी दानं कृत्वाऽपि लोभवशात् मम धनं नष्टमिति सन्तापवान्, ३ कृपणः प्राणान्तेऽपि वित्तव्ययमसहमानः, ४ अबलीयान् ज्ञानबलरहितः, ५ वर्गप्रशंसी वर्गो वृजिनं पराभिभवस्तत्प्रशंसनशीलः। अ दुःखेन सुखीत्यर्थः, ६ वनितासु परिणीतासु द्वेष्टा, ७ एते सप्त नृशंसाः ॥१८॥

शब्दार्थः—सम्भोगविद्=भोग में तन्मय, विषमू=अत्याचार को, एधमानः=बढ़ाने वाला, दत्तानुपातां=दान देकर पश्चात्ताप करनेवाला, कृपणः=कृपण, अवलीयान्=आत्मबलहीन, वर्ग-प्रशसी=अर्थ और काम का प्रशंसक, च=और, वनितामू=अपनी अनन्य भार्या को, द्वेष्टा=दुःख देने वाला, एते=यह सब, परे=उन बारहों से अलग, सप्त=सात प्रकार, नृशंसरूपाः=क्रूर दोष हैं ॥ १८ ॥

सरलार्थः—तपस्या में घातक (क्रूर) सात दोष इस प्रकार हैं—(१) स्त्रीसंग में लिप्त रहना, (२) दुराचार में रुचि रखना, (३) दान देकर पश्चात्ताप, (४) कृपणता, (५) आत्मबल का अभाव, (६) अर्थ-काम की प्रशंसा करना, (७) अपनी अनन्य भार्या से द्वेष रखना ये सातों विघातक दोष मनुष्य को क्षण भर भी शान्ति नहीं लेने देते। अतः मनुष्य को चाहिए कि सदा सावधानीपूर्वक इनसे बचता रहे ॥ १८ ॥

इदानीं ज्ञानादयो द्वादश उच्यन्ते—

ज्ञानं च सत्यं च दमः श्रुतं च अमात्सर्यं ह्रीस्तितिक्षाऽनसूया ।
यज्ञश्च दानं च धृतिः शमश्च महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य ॥१९॥

शा० भा०—ज्ञानं चेति। ज्ञानं तत्त्वार्थसंवेदनम् १ सत्यं यथार्थभाषणं भूतहितं च, २ दमो मनसो दमः, ३ श्रुतम् अध्यात्मशास्त्रश्रवणम्, ४ अमात्सर्यं सर्वभूतेष्वसहमानता तदभावोऽमात्सर्यम्, ५ ह्रीः अकार्यकरणे लज्जा, ६ तितिक्षा द्वन्द्वसहिष्णुता, ७ अनसूया परदोषानाविष्करणम्, ८ यज्ञः अग्निष्टोमादिर्महायज्ञश्च, ९ दानं ब्राह्मणादिभ्यो धनादिपरित्यागः, १० धृतिः विषयसंनिधाविन्द्रियनिग्रहः, ११ शमः, अन्तःकरणोपरतिः। बहिःकरणोपरतिरिति केचित्, १२ एते ज्ञानादयो महाव्रताः परमपुरुसार्थसाधनभूता ब्राह्मणस्य वर्णिताः, ये "ज्ञानादयो द्वादश चाततानाः" इति पूर्वं प्रस्तुताः, ते वर्णिताः ॥ १९ ॥

नील०—गुणानाह—ज्ञान इति। ज्ञानं तत्त्वज्ञानम् १ सत्यं हिंसावर्जं यथार्थभाषणम्, २ दमो जिह्वोपस्थादिनिग्रहः, ३ श्रुतम् अर्थग्रहणसहितं वेदाध्ययनम्, ४ अमात्सर्यं मत्सरः परगुणासहिष्णुत्वं तदभावः, ५ ह्रीः, लज्जा, ६ तितिक्षासत्यपि क्रोधनिमित्ते तदनुत्पादः, ७ अनसूया परगुणेषु दोषाविष्करणमसूया तदभावः, ८ यज्ञो ज्योतिष्टोमादिः, ९ दान बहिर्वेदिसंविभागः, १० धृतिः, अत्यन्तापद्यपि व्रतादेरत्यागः, ११ शमो मनोनिग्रहः, १२ ब्राह्मणस्य ब्रह्म प्राप्तुमिच्छोः ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—ज्ञानं च=ज्ञान और, सत्यं च=सत्य एवं, दमः=इन्द्रियों पर नियंत्रण, श्रुतं च=और अध्यात्मशास्त्र का श्रवण और सहानुभूति, अमात्सर्यम्=अमत्सरता, ह्रीः=लज्जा, तितिक्षा=द्वन्द्व सहिष्णुता, अनसूया=दोष न ढूंढ़ना, च=और, यज्ञः

च=और यज्ञ, दानम्=दान, धृतिः च=धैर्य और, शमः=मन पर संयम, ब्राह्मण ब्राह्मण के, द्वादश=ये बारह, महाव्रताः=महाव्रत हैं ।। १९ ।।

सरलार्थः—जो भी महापुरुष इन बारह व्रतों-गुणों से समन्वित हो जाता वह इस सम्पूर्ण पृथ्वी पर शासन करने का अधिकारी हो जाता है। इतना ही यदि इन बारह गुणों में से तीन अथवा दो ही गुण जो प्राप्त कर लेता है, भी क्रमशः इस ससार चक्र से मुक्त होकर परमार्थ-पद को प्राप्त कर लेते अर्थात् उन गुणों से धीरे-धीरे अपने पापों का क्षय करके आत्म-साक्षात्कार लेते हैं ।। १९ ।।

इदानीं गुणस्तुतिं करोति—

यस्त्वेतेभ्योऽप्रवसेत् द्वादशेभ्यः सर्वामिमां पृथिवीं स प्रशिष्यात्।
त्रिभिर्द्वाभ्यामेकतो वाऽविमुक्ताः क्रमाद्विमुक्ता मौनभूता भवन्ति ॥

शा० भा०—यस्त्विति । यस्त्वेतेभ्यः पूर्वोक्तेभ्यः अप्रवसेत् प्रवासं न करो तैरेव समन्वितो भवेत्, स सर्वामिमां पृथिवीं प्रशिष्यात् प्रशास्ति, आत्म करोति । य एतेषां मध्ये त्रिभिर्द्वाभ्यां एकत एकस्माद्वा, अविमुक्ता एतेषा तमेनापि समन्विताः, त एते क्रमेण विमुक्ता विशिष्टज्ञानिनो भूत्वा मौनभूता विदो भवन्ति ॥ २० ॥

नील०—यस्त्विति । सर्वगुणाढ्यो ब्रह्मवित् सत्यकामादिगुणभाग् भवति "य मात्मानमनुविद्य विजानाति स सर्वांश्च लोकानाप्नोति सर्वांश्च कामान्"। श्रुतेः ।। २० ।।

शब्दार्थः—यः=जो पुरुष, एतेभ्यः=इन, द्वादशेभ्यः=बारहों गुणों से, अप्रवसे समन्वित हो जाय, सः = वह, तु=तो, इमाम्=इस, सर्वाम्=सारी, पृथिवीम्=पृथ्वी प्रशिष्यात्=प्रशासन करे और, त्रिभिः=तीन से, द्वाभ्याम्=दो से, वा=अथ एकतः=एक महाव्रत से भी, अविमुक्ताः=समन्वित होता है, तो क्रमात्=वह क्रमा विमुक्ताः=विमुक्त होकर, मौनभूता=ब्रह्मरूप, भवन्ति=हो जाता है ।। २० ।।

सरलार्थः—जो पुरुष पूर्वोक्त सत्यादि बारह गुणों पर अपना प्रभुत्व रखता अर्थात् उन्हें आत्मसात कर लेता है वह इस संपूर्ण पृथ्वी का शासक बनने को होता है। यदि कोई उनमें से तीन अथवा दो अथवा एक भी महान गुण से यु होता है तो भी वह क्रमशः संसारपाश से मुक्त होकर मौनभूत परब्रह्म में लीन जाता है। भाव यह है कि सत्यादि धर्मों को आत्मसात करने पर पुरुष ऐहि सुख से विमुख होकर धीरे-धीरे बुद्धिस्थित चिदात्मा का अनुभव क लगता है ।। २० ।।

इदानीं दमदोषानाह श्लोकत्रयेण—

दमोऽष्टादशदोषः स्यात् प्रातिकूल्यं कृते भवेत् ।
अनृतं पैशुनं तृष्णा प्रातिकूल्यं तमोऽरतिः ॥२१॥

शा० भा०—दम इति । दमोऽष्टादशदोषः, अष्टादशदोषसमन्वितो भवति । किमेतेषां दोषत्वमिति चेत्, प्रातिकूल्यं कृते भवेत् । एतेषामन्यतमे कृते दमस्य प्रातिकूल्यं कृते भवेत् । के ते-अनृतम् अयथार्थवचनम् १ पैशुनं परदूषणवचनम्, २ तृष्णा विषयाशा, ३ प्रातिकूल्यं सर्वेषां प्रतिकूलता, ४ तमः अज्ञानम्, ५ अरतिः यथालाभेनासन्तुष्टिः, अथवा रतिः स्त्रीसंभोगेष्वभिरतिः ६ ॥ २१ ॥

नील०—अष्टादशदोषत्यागादष्टादशगुणत्वं दमस्याह—

दम इति । अनृतं स्पष्टम् १ पैशुन परदोषसूचकत्वम्, २ तृष्णा धनाद्यभिलाषः, ३ कृते कर्मणि वैदिके प्रतिकूलम्-अश्रद्धा, आलस्यादि च । अकृते—उपवास-व्रतादौ प्रतिकूल—क्षुधा जिह्वालौल्यादि, इद द्वयमेको दोषः, ४ तमोऽज्ञानम् ,५ अरतिः सत्क्रियानभिलाषः ६ ।, २१ ॥

शब्दार्थः —प्रतिकूलम् = प्रतिकूल व्यवहार कृते = करने पर, स्यात् = संभव है, दमः = दम भी, अष्टादशदोषः = अठारह दुर्गुणों से, भवेत् = युक्त हो जाता है, वे हैं—अनृतम् = असत्य भाषण, पैशुनम् = चुगुलखोरी, तृष्णा = विषयों की लालसा, प्रातिकूल्यम् = सबके विरुद्ध रहना, तमः=अज्ञान, अरतिः = आलस्य ॥२१॥

लोकद्वेषोऽभिमानश्च विवादः प्राणिपीडनम् ।
परिवादोऽतिवादश्च परितापोऽक्षमाऽधृतिः ॥ २२ ॥

शा० भा०—लोकद्वेषो लोकानामुद्वेगाचरणम् ७ अभिमानः सर्वत्राप्रणतिभावः, ८ विवादः जनकलहाचरणम्, ९ प्राणिपीडनं स्वदेहपूरणाय प्राणिहिंसा, १० परिवादः समक्षे परदूषणाभिधानम्, ११ अतिवादः निरर्थकोऽतिप्रलापः, १२ परितापः वृथा दुःखचिन्तनम्, १३ अक्षमा द्वन्द्वासहिष्णुता, १४ अधृतिः इन्द्रियार्थेषु चपलता १५ ॥ २२ ॥

नील०—लोकद्वेषाभिमानौ स्पष्टौ ८ विवादः कलहः, ९ प्राणिपीडनं प्राणिहिंसा, १० परिवादः दोषारोपणम्, ११ अतिवादः पराक्रोशः, १२ परितापः अतिदुःखित्वम् १३ शेषं स्पष्टम् ॥ २२ ॥

शब्दार्थः च = और, लोकद्वेषः = देशद्रोह, अभिमानः = सर्वत्र अकड़ा रहना, विवादः = व्यर्थ कलह, प्राणिपीडनम् = दूसरों का उत्पीडन, परिवादः = दूसरों पर दोषारोपण, अतिवादः = निरर्थक प्रलाप, परितापः = व्यर्थ चिन्ता, अक्षमा = क्षमा का अभाव, च = और, अधृतिः = धैर्य हीन, चल-विचल ॥ २२ ॥

असिद्धिः पापकृत्यं च हिंसा चेति प्रकीर्तिताः ।
एतैर्दोषैर्विमुक्तो यः स दमः सद्भिरुच्यते ॥२३॥

शा० भा०—असिद्धिः धर्मज्ञानवैराग्याणाम् १६ पापकृत्यं प्रतिषिद्धाचरण १७ हिंसा अविहितहिंसा १८ इति दमदोषाः प्रकीर्तिताः ॥ एतैरनृतादिभिर्दोषै विमुक्तो यो गुणः स दम इति सद्भिरुच्यते ॥ २३ ॥

नील०—असिद्धिरिति स्पष्टोर्थः ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—असिद्धिः = साधनों में असफलता, पापकृत्यम् = निषिद्ध आचरण च = और, हिंसा = जीववध, च = इस प्रकार, इति = इतने दोष, प्रकीर्तिताः = गये हैं। एतैः = इन, दोषैः = दोषों से, यः = जो, विमुक्तः = मुक्त है, सः = वह दमः = संयम है, सद्भिः = सन्तों द्वारा, उच्यते = ऐसा कहा जाता है ॥ २३ ॥

सरलार्थः—सम्पूर्ण इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने के कारण सब गुणों में प्रमु दम है परन्तु वह भी अठारह दोषों से युक्त होता है। वे अठारह दोष विघ्नस्वरू हैं, जो निम्नलिखित हैं—(१) कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के विषय में विपरीत धारण, (असत्यभाषण, (३) गुणों में दोषदृष्टि, (४) स्त्री विषयक कामना, (५) निरन्तर ध पार्जन में रत रहना, (६) भोगेच्छा, (७) क्रोध, (८) शोक, (६) तृष्णा, (१०) लोभ

(१) असत्य भाषण, (२) चुगली करने की आदत, (३) विषयासक्ति, (४) स विरुद्ध आचरण करना, (५) अज्ञान, (६) आलस्य, (७) लोगों से द्वेष रखना, (अभिमान, (६) व्यर्थ कलह-झगड़े करना, (१०) प्राणियों को कष्ट देना, (११) दू पर दोष लगाना, (१२) निरर्थक प्रलाप करना, (१३) निरर्थक दुःख प्रकट कर (१४) असहिष्णुता, (१५) धैर्य हीनता, (१६) धर्मादि में असफलता, (१७) निषि आचरण, (१८) हिंसा—इन अठारह दोषों से मुक्त जो इन्द्रिय संयम है उसी विद्वानों ने 'दम' कहा है। इन सब दोषों से शून्य 'दम' व्रत का पालन करते ही साधक आत्म-साक्षात्कार के लिए योग्य हो जाता है ॥ २१-२३ ॥

इदानीं मददोषानाह—

मदोऽष्टादशदोषः स्यात्त्यागो भवति षड्विधः ।
विपर्ययाः स्मृताह्येते मददोषा उदाहृताः ॥२४॥

शा० भा०—मद इति । एतेऽनृतादिर्हिंसांता ये दमदोषत्वेन स्थिताः स्मृता त एते विपर्ययाः स्मृताः सत्यादिरूपत्वेन स्मृताः मददोषा मदनाशकरा उदा हृताः। त एते सत्यापैशुनातृष्णाप्रातिकूल्यातमोऽरतिलोकाद्वेषानभिमानाविवा

प्राणिहिंसाऽपरिवादानतिवादोपरितापक्षमाधृतिसिद्धचपापकृत्याहिंसा इत्येते मद-नाशकरा उदाहृताः ॥ २४ ॥

नील०—मद इति। येषां विपर्यया दमगुणत्वेन उक्तास्त एव सत्यादयोऽष्टादश तथा वक्ष्यमाणस्य षड्विधत्यागस्य च विपर्ययाः षट्। ते च लक्ष्मीप्राप्तौ हर्षः १ अप्रिये जाते व्यथा २ स्वीयेषु याञ्चा ३ पात्रेष्वप्रदानम् ४ सत्यधिकारे इष्टापूर्तयोर-करणम् ५ कामस्यात्यागः प्रमादश्च ६ एते चतुर्विंशतिर्मददोषाः ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—मदः = मद के विकार से, अष्टादशदोषः = अठारह दोष, स्यात् = होते हैं। त्यागः = त्याग, षड्विधः = छह प्रकार का, भवति = होता है, हि = क्यों कि, एते = जो दम के दोष हैं मद से, विपर्ययाः = उलटकर, स्मृताः = कहे गये, मददोषाः = मद के दोष, उदाहृताः = कहे जाते हैं ॥ २४ ॥

'त्यागो भवति षड्विधः" इत्युक्तं तत्राह—

श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागस्तृतीयः खलु दुष्करः।
तेन दुःखं तरत्येव भिन्नं तस्मिन् जितं कृते ॥२५॥

शा० भा०—श्रेयानिति। षड्विधेषु त्यागेषु तृतीयत्यागो दुष्करः दुःखसंपाद्यः। तृतीयेन तेन त्यागेन दुःखम् आध्यात्मिकादिभेदभिन्नं तरत्येव तस्मिन् त्यागे कृते सर्वं जितं भवत्येव ॥ २५ ॥

नील०—श्रेयान् प्रशस्ततरः तृतीयो वक्ष्यमाणः कामत्यागस्तस्मिन्कामत्यागे कृते सति भिन्नं भेदः, भावे निष्ठा, द्वैतमिति यावत्। स एव दुःखं "द्वितीयाद्वै भयं भवति, यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोति तदल्पम् अथ यदल्पं तद्दुःखम्" इत्यादि-श्रुतिभ्यः। कामत्यागादेव सर्वदुःखनिवृत्तिरूपो मोक्षः सिद्धः। तथा च श्रुतिः—

"यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः।
अथ मर्त्यो ऽमृतोभवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते" इति ॥ २५ ॥

शब्दार्थः—षड्विधः = छः तरह का, त्यागः = त्याग, श्रेयान् = श्रेष्ठ है, तत्र = उनमें से, तृतीयः = तीसरा, दुष्करः = अत्यन्त कठिन है, तेन = उसके त्याग से, दुःखम् = सम्पूर्ण दुःखों को, तरन्ति = पार कर जाते हैं, एव = ही, तथा = साथ ही, तस्मिन् = उसके त्याग, कृते = करने पर, सर्वजितम् = सबको जीतने वाला, भवेत् = होता है ॥ २५ ॥

सरलार्थः—मद में अठारह दोष हैं। भाव यह है कि ऊपर जो दम के दोष बताये गये हैं वे ही प्रतिकूल होने पर मद से उत्पन्न विकार हैं। साधक को चाहिए कि वह दम की साधना के लिए मद को भी भली-भाँति त्याग दे। उसी प्रकार त्याग छः प्रकार का कहा गया है। वह षड्विध त्याग अत्यन्त उत्तम है अर्थात्

परमार्थ सिद्धि के लिए अत्यधिक श्रेयस्कर है। परन्तु इनमें तीसरा (काम त्याग) तो अत्यन्त कठिन है अतएव अत्यन्त आवश्यक भी है। इसके द्वारा मनुष्य त्रि दुःखों को निश्चय ही पार कर जाता है। जब पुरुष काम का त्याग कर देता वह सब पर विजय पा लेता है। अज्ञान को नष्ट करने का सबसे बड़ा साधन का त्याग करना ही है। यही आत्मज्ञान में सर्वाधिक सहायक है ॥ २४-२५ ॥

त्यागषट्कं दर्शयति—अर्हत इति सार्द्धेन—

अर्हते याचमानाय पुत्रान्वित्तं ददाति यत् ।
इष्टापूर्तं द्वितीयं स्यान्नित्यं वैराग्ययोगतः ॥२६॥
कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः ।
अप्रमादी भवेदेतैः स चाप्यत्र गुणो महान् ॥२७॥

शा० भा०—अर्हते दानयोग्याय याचमानाय पुत्रान्वित्तं ददाति यत् त त्यागद्वयं षण्णां मध्ये प्रथमम्। इष्टापूर्तं द्वितीयं स्यात्—इष्टं श्रौते कर्म यद्दानम्। पूर्तं स्मार्त्ते कर्मणि। इष्टं देवेभ्यो दत्तम्, पूर्तं पितृभ्य इ केचित्। नित्यं वैराग्ययोगतः विशुद्धसत्त्वस्यानित्यत्वादिदोषदर्शिनो विरक्त अनादिपरित्यागः कामत्यागश्च राजेन्द्र स तृतीय इति स्मृतः।

किमेभिर्भवतीत्याह—अप्रमादीति। य एतैः षड्भिस्त्यागैः समन्वितः स प्रमादी भवेत्। स अप्रमादोऽष्टगुणः अष्टभिर्गुणैः समन्वितो भवति ॥ २६ ॥ २

नील० त्यागमेवाह अर्हत इति। अर्हतं योग्याय। इष्टं यागहोमादि १, आ तडागारामादि २ ॥ २६ ॥

नील०—षड्विधत्यागफलमाह अप्रमादीति। स च अप्रमादश्च ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—अर्हते = योग्य, याचमानाय = याचक के लिए, पुत्रान्वित पुत्रादि से युक्त, यत् = जो कुछ, ददाति = देता है, इति प्रथमः = वह प्रथम त है। द्वितीयम् = दूसरा त्याग, इष्टापूर्तम् = देव तथा पितरों के निमित्त प्रदान का स्यात् = है, नित्यं वैराग्ययोगतः = सदैव स्थिर वैराग्य से युक्त होकर, राजेन राजेन्द्र ! च = तथा, कामत्यागः = जो काम का त्याग है, स = वह, तृतीय प्रसिद्ध तीसरा त्याग, स्मृतः = कहा गया है, एते = इन त्यागों के प्रभाव से, " वह प्राणी, अप्रमादी = ज्ञाननिष्ठ, भवेत् = हो जाता है, च = और, सः अप्रमाद, अपि = भी, अष्टगुणः = आठ गुणवाला कहा गया है ॥ २६-२७ ॥

सरलार्थः—उन छः प्रकार के त्याग का स्वरूप बताते हैं—किसी सुयोग्य या के आ जाने पर उसे दान करे, यह पहला त्याग है। यज्ञादि के लिए द्रव्य तथा लोकहित के लिए कुँआ, तालाब, बगीचे व भवन बनवाना चाहिए

दूसरा त्याग है। भोग्य-वस्तुओं के प्रति अनासक्ति एवं कामना का त्याग, तीसरा त्याग है। इन तीनों प्रकार के त्यागों में आत्महित एवं लोकहित समाविष्ट है। मनुष्य इन त्यागमय गुणों से अप्रमादी होता है।

भगवान् सनत्सुजात ने काम त्याग को दुष्कर बताया है, क्योंकि आत्म-साक्षात्कार में वही निकटतम शत्रु है। वही इस अज्ञानात्मक प्रपञ्च का मूल है। उसी की वासना से पुरुष अनेक यानियों में भटकता रहता है। स्मृति कहती है-''आवृतं ज्ञानमेतेन कामरूपेण वैरिणा'' (गीता)। अतएव कामना का त्याग प्रमाद को नष्ट करता है जो कि संसार का मूल कारण है। वह अप्रमाद भी आठ गुणों वाला है अर्थात् प्रमाद रहित हो जाने पर उस साधक में आठ प्रकार के गुण आ जाते हैं॥ २६-२७॥

के ते ? तान् दर्शयति—

सत्यं ध्यानं समाधानं चोद्यं वैराग्यमेव च।
अस्तेयं ब्रह्मचर्यं च तथाऽसंग्रहमेव च॥२८॥

शा० भा०—सत्यमिति। सत्यं यथार्थभाषणं १ ध्यानं चेतसः कस्मिंश्चित् शुभाश्रये मण्डलपुरुषादौ तैलधारावत्संततविच्छेदिनी प्रवृत्तिः, २ समाधानं प्रणवेन विश्वाद्युपसंहारं कृत्वा स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनाऽवस्थानम्, ३ चोद्यं कोऽहं कस्य कुतो इत्यादि वा, ४ वैराग्यं दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णता, ५ अस्तेयम् अचौर्यं आत्मनो द्रव्यस्य वा। आत्मचौर्यमुक्तम्—

योऽन्यथासन्तमात्मानमन्यथा प्रतिपद्यते।
किं तेन न कृतं पापं चोरेणात्मापहारिणा॥ इति॥६॥

ब्रह्मचर्यम् अष्टाङ्गमैथुनत्यागः। तथाचोक्तम्—

दर्शनं स्पर्शनं केलिः कीर्तनं गुह्यभाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियानिर्वृत्तिरेव च॥
एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदंति मनीषिणः।
विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम्॥ इति।

असंग्रहः अपरिग्रहः पुत्रदारगृहादीनाम् ८ एतत्परिपालयेत्॥ २८॥

नील०—सत्यं यथार्थवचनम् १ ध्यानं मूर्तेरीश्वरस्य आत्मनो वाऽनुसंधानम्, २ समाधानं संप्रज्ञातासंप्रज्ञातभेदेन द्विविधः समाधिः, ३ चोद्यं तर्कः येन समाधिफले सार्वकाम्यादौ दोषमुन्नयन्ति, ४ वैराग्यम् उपरमः. ५ अस्तेयं परस्वापहरणाभावः, ६ ब्रह्मचर्यं स्त्रीसंगराहित्यम्, ७ असंग्रहो निष्परिग्रहता ८ ।। २८॥

शब्दार्थः—सत्यम् = यथार्थ भाषण, ध्यानम् = ईश्वरानुसन्धान, समाधान = निश्चितबोध, चोद्यम् = ज्ञानार्थतर्क, च = और, वैराग्यम् = वैराग्य, एव = तथा, अस्तेयम् = चोरी न करना, ब्रह्मचर्यम् = ब्रह्मचर्यव्रत, च = और, तथा = उसी प्रकार, असंग्रहम् = धन, जन आदि के संग्रह का अभाव, एव = ही आठ गुण हैं ।। २८ ।।

सरलार्थः—वे निम्न हैं—(१) सत्य बोलना, (२) ईश्वर के प्रति ध्यान, (३) अध्यात्मविषयक चिन्तन, (४) ज्ञान के लिए जिज्ञासा, (५) वैराग्य, (६) चोरी न करना, (७) ब्रह्मचर्य का पालन, (८) धनादि का संग्रह न करना ।।२८।।

दोषान्वर्जयेदित्याह—

एवं दोषा दमस्योक्तास्तान् दोषान्परिवर्जयेत् ।
दोषत्यागोऽप्रमादः स्यात्स चाप्यष्टगुणो मतः ।।२९।।

शा० भा०—एवमिति । 'दमोऽष्टादशदोषः स्यात्' इति ये दोषा उक्ताः स्तान्वर्जयेदिति । कस्मादित्यत्राह—दोषत्यागेऽप्रमादः स्यात् तेषु दोषेषु त्यक्तेषु प्रमादी न स्यादित्यर्थः । सोऽप्यप्रमादोऽष्टगुणो मतः । 'सत्यं ध्यानम्' इत्यादिना पूर्वमेवोपदिष्टमित्यर्थः ।। २९ ।।

नील०—उक्तमनुवदत्यप्रमादप्रतियोगिनं प्रमादं वक्तुम्—एवमिति ।। २९ ।।

शब्दार्थः—एवम् = इस प्रकार, दमस्य = दम के जो, दोषाः = अठारह दोष, उक्ताः = कहे गये हैं । तान् = उन, दोषान् = दोषों को, परिवर्जयेत् = त्याग दे। दोष त्यागः = दोष का त्याग ही, अप्रमादः = अप्रमाद, स्यात् = है । च = तथा, सः अपि = वह भी, आठगुणः = अष्टगुणों वाला, मतः = कहा जा चुका है ।। २९ ।।

सरलार्थः—इस प्रकार ये आठ गुण त्याग और अप्रमाद दोनों के ही जानने चाहिए । दम के जो अठारह दोष पहले बताये गये हैं, उन दोषों का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए। उन दोषों को त्याग देने पर पुरुष प्रमाद से रहित हो जाता है, वह प्रमाद भी अष्टगुणात्मक बताया गया है ।। २९ ।।

इदानीं सत्यस्तुतिः क्रियते—

सत्यात्मा भव राजेन्द्र सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः ।
तांस्तु सत्यमुखानाहुः सत्ये ह्यमृतमाहितम् ।।३०।।

शा० भा०—सत्येति । सत्यात्मा सत्यस्वरूपो भव हे राजेन्द्र, सत्ये लोकाः प्रतिष्ठिताः तांस्तु सत्यमुखान् सत्यप्रधानान् सत्याधीनात्मलाभान् आहुः । सत्ये हि अमृतम् आहितम्, अमृतं मोक्षः ।। ३० ।।

नील०—दमत्यागाप्रमादानुक्त्वा तेषां सत्यमुखत्वं प्रागुक्तं विवृणोति—सत्यात्मेति । सत्ये आत्मा चित्तं यस्य स तथा तान् दमत्यगाप्रमादान् ।। ३० ।।

शब्दार्थः—राजेन्द्र—हे राजन्! सत्यात्मा=सत्य स्वभाववाला, भव=हो जाओ। सत्ये=सत्य में, लोकाः=सभी लोक, प्रतिष्ठिताः=स्थित हैं, तु=तथा, तान्=उन लोकों को, सत्यमुखान्=सत्य के द्वार वाला, आहुः=कहा जाता है, सत्ये=सत्य में, अमृतम्=अमृत, आहितम्=भरा है॥ ३०॥

सरलार्थः—हे राजेन्द्र, अब तुम सत्यस्वरूप हो जाओ, सत्य में ही सम्पूर्ण लोक प्रतिष्ठित हैं। वे दम त्याग और अप्रमाद भी सत्यस्वरूप परमात्मा की प्राप्ति कराने वाले हैं। सत्य में ही अमृत की प्रतिष्ठा है।

तात्पर्य यह है कि आत्मानन्दस्वरूप त्रिकालाबाधित ब्रह्म ही एक सत्य है इसके अतिरिक्त जो कुछ भी है वह मिथ्या है। श्रुति कहती है—"सर्वं खल्विदं ब्रह्म"॥ ३०॥

निवृत्तेनैव दोषेण तपोव्रतमिहाचरेत्।
एतद्धात्रा कृतं वृत्तं सत्यमेव सतां व्रतम्॥३१॥

शा० भा०—निवृत्तेनेति। निवृत्तेनैव दोषेण 'क्रोधादय' (अ० २ श्लो० १५) इत्यादिना पूर्वोक्तदोषरहितं तपोव्रतमिहाचरेत्। एतद्धात्रा परमेश्वरेण कृतं वृत्तं सत्यमेव सतां परं व्रतम्॥ ३१॥

नील०—दोषनिवृत्त्यैव तपःसिद्धिर्धात्रा कृतेत्याह—निवृत्तेनैवेति॥ ३१॥

इदानीं 'कथं समृद्धम्' इत्यादिनोपक्रान्तं प्रकरणार्थमुपसहरति—

दोषैरेतैर्विमुक्तं तु गुणैरेतैः समन्वितम्।
एतत्समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम्॥३२॥

शा० भा०—दोषैरिति। दोषैरेतैः 'क्रोधादयः' इत्यादिना पूर्वोक्तैर्विमुक्तं गुणैरेतैः ज्ञानादिभिः समन्वितं यत् एतत्समृद्धमप्यृद्धं तपो भवति केवलम्॥३२॥

शब्दार्थः—दोषेण=दोषों को, निवृत्तेन=त्याग कर, एव=ही, इह=इस लोक में, तपःव्रतम्=तप व्रत का, आचरेत्=आचरण करे, क्योंकि, सताम्=सत्पुरुषों का व्रतम्=व्रत, सत्यम्=सत्य, एव=ही है। धात्रा=विधाता ने, एतत्=इस प्रकार का, वृत्तम्=नियम, कृतम्=बना रखा है। एतैः=इन क्रोधादि, दोषैः=दोषों से, विमुक्तम्=मुक्त हुआ, तु=तथा, एतैः=इन ज्ञानादि, गुणैः=गुणों से, समन्वितम्=युक्त हुआ, एतत्=यह, अत्यर्थम्=अतीव, समृद्धम्=बढ़ा-चढ़ा तपः=तप, अपि=ही, केवलम्=शुद्ध होता है॥ ३१-३२॥

सरलार्थः—कामादि दोषों को निवृत्त करके ही इस लोक में वृत्त और तप का आचरण करना चाहिए। विधाता का ऐसा ही नियम है। सत्य ही श्रेष्ठ पुरुषों का व्रत है। मनुष्य को चाहिए कि वह क्रोधादि दोषों से रहित तथा ज्ञानादि गुणों से

युक्त होकर ही तप करना चाहिए, वही तप अत्यन्त विशुद्ध और … होता है ॥ ३१-३२ ॥

किंबहुना—

यन्मां पृच्छसि राजेन्द्र संक्षेपात्प्रब्रवीमि ते ।
एतत्पापहरं शुद्धं जन्ममृत्युजरापहम् ॥३३॥

शा० भा०—यन्मामिति । हे राजेन्द्र, यन्मां पृच्छसि तत्संक्षेपात् समा… ब्रवीमि ते, एतत्पापहरं शुद्धं फलाभिकाङ्क्षारहितं तपोव्रत जन्ममृत्यु… पहम् ॥ ३३ ॥

नील०—प्रश्नव्याख्यानमुपसहरति दोषैरिति ॥ ३२-३३ ॥

शब्दार्थः—राजन्=राजेन्द्र ! आप, यत्=जो, माम्=मुझसे, पृच्छसि=पूछ… हैं, तत्=वह, संक्षेपात्=संक्षेप से, ब्रवीमि=बता रहा हूँ । एतत्=जो कि, पापह… पापनाशक, शुद्धम्=शुद्ध और, जन्ममृत्युजरापहम्=जन्म, मृत्यु तथा वृद्धता नाश करनेवाला है ॥ ३३ ॥

सरलार्थः—हे नृपश्रेष्ठ, आपने जो प्रश्न किया है, उसे मैं संक्षेप में बता… हूँ । यह निष्काम तपोव्रत जन्म, मृत्यु और वृद्धावस्था के क्लेश को नाश करनेवा… पापहारी तथा परम पवित्र है ॥ ३३ ॥

किं तदिति चेत् तत्राह—

इन्द्रियेभ्यश्च पञ्चभ्यो मनसश्चैव भारत ।
अतीतानागतेभ्यश्च मुक्तश्चेत्स सुखी भवेत् ॥३४॥

शा० भा०—इन्द्रियेभ्य इति । हे भारत यो विषयेभ्यः पञ्चभ्यः इन्द्रिये… वर्तमानेभ्यो मनसश्चैव तथाऽतीतेभ्योऽनागतेभ्यश्च मुक्तश्चेत्स सुखी भवेत् … एव भवतीत्यर्थः ॥ ३४ ॥

नील०—पञ्चभ्य इन्द्रियेभ्यः षष्ठान्मनसश्च स्वस्वविषये रागद्वेषोत्थाः … प्रमादाः, अतीते नष्टे पुत्रशोकादिजः सप्तमः अनागते पुत्रकामस्य तदभावे यः … सोऽष्टमः प्रमादः । एतेभ्यः प्रमादेभ्यो मुक्तश्चेत् स सुखी भवेत् ॥ ३४ ॥

शब्दार्थः—भारत=राजन्, यः=जो, पञ्चभ्यः=पाँच विषयों से युक्त, इ… येभ्यः=इन्द्रियों से, और मनसश्च=मन से, अतीतानागतेभ्यः=भूत और भावि सं… से, मुक्तः=मुक्त है, स=वही, सुखी भवेत्=वास्तविक आनन्द को प्राप्त है ॥ ३४ ॥

सरलार्थः—पूर्वोक्त निष्काम तप का ही स्वरूप बताते हैं । जो पुरुष … विषयों को, इन्द्रियों तथा मन को तथा भूत और भविष्य के संस्कारों को त्याग …

है अर्थात् भूतकाल की चिन्ता और अनागत आशा को त्याग देता है, वह पुरुष सुखी-आनन्दमय हो जाता है ॥ ३४ ॥

एवमुक्ते प्राह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच—

आख्यानपंचमैर्वेदैर्भूयिष्ठं कत्थ्यते जनः ।
तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाश्च तथाऽपरे ॥३५॥

शा० भा०—आख्यानेति । आख्यानं पुराणं पंचमं येषां वेदानां ते आख्यानपंचमाः । श्रूयते च छन्दोग्ये—"इतिहासपुराणं च पञ्चमो" इति । तैराख्यानपंचमैर्वेदैः भूयिष्टम् अत्यर्थं कत्थ्यते श्लाघ्यते बहु मन्यते । सर्वस्मादधिकोऽहमिति कथ्यते इति केचित्पठन्ति । आख्यानपञ्चमैर्वेदैः कश्चिज्जनः पञ्चमवेदीति कथ्यते इत्यर्थः । तथा चान्ये चतुर्वेदास्त्रिवेदाः ॥ ३५ ॥

नील०—एवं विद्यासाधनान्यधिगम्य अध्ययनगृहीताद्वेदादधिगतवेद्यानामनेकत्वं मन्वानः किं तद्वेद्यं श्रेष्ठमिति पृच्छति—आख्यानेति । आख्यानम् इतिहासपुराणादि पञ्चमं येषु तैर्वेदैः 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'ब्रह्मैवेद विश्वं' 'पुरुष एवेदं सर्वम्' इत्यादिभिर्भूयिष्ठ नाभादिप्रपञ्चार्दधिकतम भूमाख्यं पर ब्रह्म तदेव जनः स्थावरजंगमरूपं जगदिति कथ्यते । अन्ये शाखिनः पुनश्चतुर्वेदः चत्वारि वेदयन्ति ते तथा चत्वारः पुरुषा इति । बाह्यः शरीरपुरुषः, छन्दः पुरुषो, वेदपुरुषो, महापुरुषः इति । छन्दोगायत्र्यादिनियताक्षरपादं तच्च यजुःसाम्नोऽप्युपलक्षणम्, वेदः कर्मचोदनात्मकं ब्राह्मणम् । तथा त्रिवेदाः त्रीन् क्षरमक्षरमुत्तमं चेति पुरुषं वेदयन्ते ते त्रिवेदाः, क्षरं प्रधानम् "अमृताक्षर हरःक्षरात्मानावीशते देव एकः" इति । अमृतो जीवः कूटस्थः सोऽक्षरं सुलोप आर्षः ईशते ईष्टे ।

क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते ।
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः इति ॥ ३५ ॥

शब्दार्थः—जनः=कोई पुरुष, आख्यानपञ्चमैः=इतिहास - पुराणादि सहित पाँच. वेदैः=वेदों द्वारा, भूयिष्ठम्=श्रेष्ठ, चतुर्वेदाः=चार वेदों के अध्येता, त्रिवेदाः=तीन वेदों के अध्येता ॥ ३५ ॥

सरलार्थः—धृतराष्ट्र ने कहा—हे मुनिप्रवर, इतिहास-पुराण जिनमें पञ्चम माना गया है, उन सम्पूर्ण वेदों द्वारा कुछ लोगों का विशेष रूप से आदर देते हैं अर्थात् उन पाँचों वेदों के अध्येता को अधिक आंदर देते हैं । अन्य कुछ लोग चतुर्वेदी और त्रिवेदी कहे जाते हैं ॥ ३५ ॥

द्विवेदाश्चैकवेदाश्च अनृचश्च तथाऽपरे ।
एतेषु मेऽधिकं ब्रूहि यमहं वेद ब्राह्मणम् ॥ ३६ ॥

शा० भा०—अपरे द्विवेदाः एकवेदाश्च, अनृचश्च तथाऽपरे। एतेषु मनुष्ये अधिकं श्रेष्ठं ब्रूहि यमहं ब्राह्मणं वेद विद्याम् ॥ ३६ ॥

नील०—तथा द्विवेदः—"द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत्' इ वाच्यवाचकयोरभेदेन शब्दब्रह्मशब्देनात्र कृत्स्नो नामरूपात्मकः प्रपञ्च उक्तं परं च तदतीतम् इति द्वयमपि वेद्यत्वेन वदन्ति। एकवेदाः—"एकधैवानुद्रष्टव्यं ने नानास्ति किंचन" इत्यादयः एकमेव वेद्यं वेदयन्ति। अनृचश्च—ऋच्यते स्तु इति ऋक् ईश्वरः स पृथक्त्वेन नास्ति येषां तेऽनृचः ब्रह्माद्वैतवादिनः। एकवेदा व्युत्थानकाले द्वैतमस्ति समाधौ तु बाधितं तद्भवति। अनृचां तु अवस्थाद्वये द्वैताभावस्तुल्य इति भेदः। एतेषां षण्णां मध्ये अधिकं ब्रूहि यमहं वेद जानी ब्राह्मणं ब्रह्मविदमित्यर्थः। अत्र 'भूयिष्ठं जनः' इति प्रथमः सविशेषाद्वैतपक्षः द्वितीयो निरीश्वरपक्षः, सांख्यानां मीमांसकानां च। त्रिवेदास्तु पातञ्जला जीवे जगतां भेदं वदन्तः। द्विवेदास्त्वौडुलोमाः कार्यात्मना भेदं कारणात्मना अभेदं सत्यमेव वदन्तः। तथा कटकमुकुटाद्यात्मना भेदोऽपि सत्यः कानकात्मनाऽभेदो सत्य एवेति। एकवेदानामपि किंचिद्बाधयोग्यं सत्त्वासत्त्वाभ्यामनिर्वचनीयं द्वैत स्त्वेव व्यावहारिकं प्रातिभासिकात्सद्योबाध्यात् रज्जूरगादेर्विलक्षणं यावन्मोक्षमबाध्यम् अनृचां तु दृष्टिसृष्टिवादिनां—यथा रज्ज्वामुरगः स्रक् च कल्पिताः एवमात्मनि जा स्वप्नौ समसत्ताकौ इति भेदः। तत्र "अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपञ्चं प्रपञ्च्यते इति न्यायेन आद्ये पक्षचतुष्टयं व्यवहारस्य पारमार्थिकत्वपरमध्यारोपदृष्ट्योपन्यस्त अन्त्यः पक्षोऽपवाददृष्ट्या व्यवहारापलापेन, एकवेदपक्षस्तु व्यामिश्रदृष्ट्याऽनिर्वच नीयाख्यया, एवमेव दृष्टित्रयमाश्रित्य शास्त्रमपि प्रवृत्तम् "आत्मकृतेः परिणामात् इति अध्यारोपकाले परिणामदृष्टिः सूचिता, ब्रह्मैव कनककुण्डलन्यायेन जगदाकारे परिणतम्। तथा च श्रुतिः—"तदात्मानꣳस्वयमकुरुत सत्यं चानृतं च सत्यम भवत्।" सत्यं व्यावहारिकं जाग्रद्रज्ज्वादि अनृतं प्रातिभासिकं स्वप्नरज्जूरगा एतदुभयात्मकं सत्यं कालत्रयाबाध्यं ब्रह्मैव प्राप्तमिति श्रुत्यर्थः। तथा "आत्मनि चै विचित्राश्च हि" इति स्वप्नकाले आत्मनि जाग्रत्काले मायेन्द्रजालमरीचि कोदकादि हि प्रसिद्धतराः सृष्ट्यो भवन्ति विचित्राश्च ताः। नच ताः न सन्तीति वक्तुं शक्यम्। अनुभूयमानत्वात्। नापि सन्तीति, ज्ञानेन सद्यो बाधात्। एवं ब्रह्मण्य विचित्राऽनिर्वचनीया सृष्टिरस्तीति सूत्रार्थः। तथा चास्य जगतोऽनिर्वचनीयत्वं श्रु राह—"को अद्धा वेद क इह प्रावोचत्कुत आजाता कुत इयं विसृष्टिः" इति

कोऽपि न वेद न कोऽपि प्रावोचदिति श्रुत्यर्थः। सेयं व्यामिश्रदृष्टिः। अपवाददृष्टिस्तु "आह च तन्मात्रम्" इति। (ब्र० सू० अ० ३ पा० २ सू० १६) सूचिता। "स यथा सैंधवखिल्य उदके प्रास्त उदकमेवानुविलीयेत स यथा सैंधवघनोऽनंतरोऽवाह्यः कृत्स्नो रसघन एवं वा अरेऽयमात्मा कृत्स्नः प्रज्ञानघनः" इति श्रुत्या च दर्शिता। यथा जले प्रास्तः सैंधवखिल्यः स्वोपादानं उदके जले लीनमनु स्वयमपि लीयते अन्यथा करकालय इव जले परिमाणाधिक्यं स्यात् अतः स अन्तरं कारणं वाह्यं घनीभावः तदुभयवर्जितः केवलरसमात्रात्मना जलेऽभिव्यक्तो दृश्यते एवमयं प्रपञ्चः कार्यकारणोभयस्वरूपहीनः समाधौ केवलप्रज्ञानघनोऽभिव्यज्यते इति श्रुत्यर्थः। अनेन दृष्टित्रयेण जनबोधार्थं शास्त्रं प्रवृत्तं यथोक्तं संक्षेपशारीरके—

आरोपदृष्टिरपवादकदृष्टिरेवं
व्यामिश्रदृष्टिरिति दृष्टिविभागमेनम्।
सङ्गृह्य सूत्रकृदयं पुरुषं मुमुक्षुं।
सम्यक्प्रबोधयितुमुत्सहते क्रमेण ॥ इत्यादिना—
श्रुतिवचांसि मुनिस्मरणानि च
द्वयविशारदगीरपि सर्वशः।
त्रयमपेक्ष्य दृशां त्रितयं विना।
नहि घटामुपयान्ति कदाचन ॥ इत्यन्तेन ॥ ३६ ॥

शब्दार्थः—द्विवेदाः=दो वेद का पाठ करते हैं, च एकवेदाः=और कुछ एक वेद को पढ़ते हैं, तथा च अपरे=इसी प्रकार अन्य ब्राह्मण, अनृचः=वेद की ऋचा को न पढ़ने वाले हैं, अधिकम्=जो श्रेष्ठ हो उसे, मे ब्रूहि=मुझे बतायें, अहम्=मैं, यं ब्राह्मणम्–जिसको ब्राह्मण, वेद–जान सकूँ ॥३६॥

सरलार्थः—दूसरे कुछ ब्राह्मण द्विवेद अर्थात् दो वेदों का अध्ययन करते हैं तो कुछ एक ही वेद में निष्ठ रहते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरे लोग न वेद की ऋचाओं को पढ़ते हैं, न उसके महत्व को जानते ही हैं। वे लोग अनृच कहे जाते हैं। इनमेंसे कौन अधिक श्रेष्ठ है अथवा किसका मार्ग अधिक उत्तम है, कृपा करके मुझे कहिए, जिससे मैं ब्राह्मण के स्वरूप को यथार्थतः जान सकूँ ॥३६॥

य एवं स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनाऽवस्थितः स एव ब्राह्मण इति दर्शयिष्यन् तद्व्यतिरिक्तस्य सर्वस्य तदज्ञानमूलत्वं दर्शयति—

सनत्सुजात उवाच—

एकवेदस्य चाज्ञानाद्वेदास्ते बहवोऽभवन्।
सत्यस्यैकस्य राजेन्द्र सत्ये कश्चिदवस्थितः ॥३७॥

शा० भा०—एकवेदस्येति। एकस्य वेदस्य—वेद्यमिदंरूपम् अनिदंरूपं वेद्यं ही है वेदः ज्ञानम्—एकस्याद्वितीयस्य संविद्रूपस्येत्यर्थः। तस्यैकवेदस्य ब्रह्मणोऽनवगमात् ऋगादयो वेदा बह्वोऽभवन्। अत्र ऋगादिवेदास्तत्प्रतिपत्त्यर्थं विचारं कुर्वंतीति वेदाख्यामवाप्नुयुः।

अथवा, सद्भावं साधयन्तीति वेदाः, विदन्ति वेदनहेतुभूता इति वा वेदाः। अथवा, ब्रह्माधीनमात्मानं लभन्त इति वेदाः। ब्रह्मण आत्मतया लाभहेतव इति वा वेदाः। विद विचारणे। विद सत्तायां। विद ज्ञाने। विदलृ लाभे। एतेषां धातूनां विषये वर्त्तते यस्मात्ततो वेदा इत्युक्ताः। तदेकवेदस्वरूपं किमिति चेत् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" "एकमेवाद्वितीयम्" इति श्रुतेः। तस्मात् सत्यस्य वेदस्वरूपस्य ब्रह्मणोऽनवगमात् वेदा बहवो व्याख्याताः सर्वे वेदास्तदर्थदर्शनहेतवः, हे राजेन्द्र, त्वं पुनः कच्चित्सत्ये स्थितोऽसि ? इति ॥ ३७ ॥

भूयो मे शृणु—

य एनं वेद तत्सत्यं प्राज्ञो भवति नित्यदा।
दानमध्ययन यज्ञो लोभादेव प्रवर्तते ॥ ३८ ॥

शा० भा०—किमर्थम् ? नो चेत्, तत्र यद्भवति तच्छृणु—

नील०—एवमनेकेषु पक्षेषूपस्थापितेषु सिद्धान्तमाह एकस्येति। ब्रह्मैव एकं वेद्यं तच्च सत्ये कालत्रयेऽप्यबाध्यं तस्य अज्ञानात् बहूनि वेद्यानि उपास्यानि अब्रह्मभूतानि कृतानि कल्पितानि। वेदे सत्यप्रतिपत्त्यर्थम् तेषामब्रह्मत्वं वेद एवाह 'तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" इति। तस्मिंश्च सत्ये ब्रह्मणि कश्चिदेव अवस्थितः ब्रह्मलाभोऽतिदुर्घट इत्यर्थः। श्रुतिरप्यज्ञानकार्यत्वं जगत आह—"तुच्छेनाभ्वपिहितं यदासीत् तमसस्तन्महिनाऽजायतैकम्" इति। तुच्छेन रज्जूरगादिवदध्यस्तेन मिथ्याभूतेन तमसा आभु सर्वव्यापकं ब्रह्म अपिहितं आच्छादितं यत् आसीत् तत् एकमसत् तमसः अज्ञानस्य, तपस इति पाठे आलोचनस्य संकल्पनात्रस्य महिना माहात्म्येन अजायत प्रपंचाकारेण आविर्बभूव यथा रज्जुरज्ञानावृता सर्पाकारेणाविर्भवति तद्वदिति श्रुत्यर्थः ॥ ३७–३८ ॥

शब्दार्थः—राजेन्द्र=राजन् ! एकवेदस्य=एक सत्य स्वरूप परमात्मा के अज्ञानात्=यथार्थ बोध न होने से, बहव=अनेक, ते=वे वेद, अभवन् च=प्रकट हुए किन्तु, एकस्य सत्यस्य=एक सत्य की, सत्ये=सत्ता में, कश्चित्=कोई विरला ही अवस्थितः=स्थित हो सकता है ॥३७॥

सरलार्थः—भगवान सनत्सुजात बोले—हे नृपश्रेष्ठ, इन वेदों के बहुत से भेद होने का मुख्य कारण उस सत्य स्वरूप परम तत्त्व परमात्मा का यथार्थ बोध न होने

ही है। सम्पूर्ण वेद उसी परात्पर तत्त्व का बोध कराते हैं। वेद के सारतत्त्व परब्रह्म में कोई-कोई ही अवस्थित हो पाता है। दूसरे लोग द्वैतभावके कारण परमपदसे च्युत हो जाते हैं ॥३७॥

शब्दार्थः— यः=जो साधक, एनम्=आत्मस्वरूप ब्रह्म को, वेद=जानता है, तत्सत्यम्=उसका ज्ञान यथार्थ है। नित्यदा स=सदा के लिए वह, प्राज्ञः भवति=ब्रह्मवेत्ता हो जाता है, दान=दान, अध्ययनम्=स्वाध्याय, यज्ञः=यजन तो प्रायः लोभात्=प्रयोजनवश, प्रवर्त्तते=किये जाते हैं ॥३८॥

सरलार्थः—जो ब्राह्मण उस वेदात्मक सत्यस्वरूप पर ब्रह्म को जान लेता है, वस्तुतः वही उसका यथार्थ ज्ञान है। वह सदा के लिए प्राज्ञ-विद्वान हो जाता है अर्थात् उस ब्राह्मण को जानने के अनन्तर कुछ भी जानने को शेष नहीं रह जाता। श्रुति है— येन विज्ञातं भवति—इसके अतिरिक्त संसार में दान, अध्ययन तथा यज्ञादि क्रियाओंके प्रति लोभी पुरुष की ही प्रवृत्ति होती है। दान से यश, अध्यय से सम्मान और यज्ञादि से स्वर्ग सुखकी कामना बनी रहती है ॥३८॥

सत्यात्प्रच्यवमानानां संकल्पा वितथाऽभवन्।
ततः कर्म प्रतायेत् सत्यस्यानवधारणात् ॥ ३९ ॥

शा० भा०—सत्यादिति। सत्यादिलक्षणाद्ब्रह्मणः प्रच्यवमानानां संकल्पा वितथा अभवन् व्यर्थाः भवन्ति। स्वाभाविकसत्यसंकल्पादयो न सिध्यन्तीत्यर्थः। ततः कर्म यज्ञादि प्रतायेत विस्तृतं भवेदित्यर्थः। तदेतत्सर्वं सत्यस्य सत्यादिलक्षणस्य ब्रह्मणोऽनवधारणात् अनवगमात्। आत्माज्ञाननिमित्तत्वात्संसारस्य यावत्परमात्मानमात्मत्वेन साक्षान्न जानाति तावदयं तापत्रयाभिभूतो मकरादिभिरिव रागादिभिरितस्ततः समाकृष्यमाण इतस्ततो मोमुह्यमानोऽसत्यसंकल्पः स्वर्गपश्वन्नादिदेहसाधनेषु वर्त्तत इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

नील०—सत्यादिति। तथा भवेत् परमानन्दात्प्रच्युतस्य क्षुद्रानन्दविषयोऽभिलाषो भवेत् ततश्चासौ यज्ञो ज्योतिष्टोमादिः प्रतायेत सन्तन्यते सत्यस्य वेदवचनस्य ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेतेत्यादेः अवधारणात् प्रामाण्यनिश्चयात्, संकल्पो वितथो भवेदिति पाठे सत्यज्ञस्यैव सत्यसंकल्पत्वं अन्यस्य तु संकल्पो वन्ध्य इत्यर्थः। सनत्पाठे यज्ञोऽपि सत्यस्यानवधारणादापारोक्ष्येण अनिश्चयादेव प्रवर्तते, ज्ञाते तु सत्ये एतद्बुध्वा बुद्धिमान्स्यात् कृतकृत्यश्च भारतेति कृतकृत्यत्वमेव स्मर्यते ॥ ३९ ॥

शब्दार्थः— सत्यात्=सच्चिद् स्वरूप ब्रह्म से प्रच्यवमानानाम्=च्युत होनेवालों के, संकल्पाः=निश्चय, वितथा=छिन्न भिन्न, अभवन्=हो जाते हैं। ततःऽइसलिए

सत्यस्य=सत्यात्मा के, अनवधारणात्=निश्चय न होने के कारण, कर्म=कर्म का, प्रतायते=विस्तार करते हैं ॥३९॥

सरलार्थः—उस सत्यस्वरूप परब्रह्म से च्युत हो जाने पर पुरुष के अपने संकल्प व्यर्थ हो जाते हैं। इस कारण सच्चिदानन्दरूप ब्रह्म का वास्तविक न होने के कारण वे लोग यज्ञादि कर्मों का विस्तार करते हैं।

इदानीं ब्राह्मणलक्षणमाह—

विद्याद् बहुपठन्तं तु बहुवागिति ब्राह्मणम्।
य एव सत्यान्नापैति स ज्ञेयो ब्राह्मणस्त्वया ॥४०॥

शा० भा०—विद्यादिति। बहुपठन्तम् आख्यानपंचमवेदाध्यायिनम् बहुवागिति विद्यात्, न साक्षाद् ब्राह्मणमिति। कस्तर्हि मुख्यो ब्राह्मणः? इति चेत् य एव सत्यादिलक्षणान्नापैति न क्षरति चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मरूपेणावतिष्ठते स एव ब्राह्मणस्त्वया ज्ञेयः नेतरो यः सत्यात् च्युतः अकृतार्थः सन् कर्मणि प्रवर्तते। तथाच ब्रह्मविदमेव ब्राह्मणं दर्शयति श्रुतिः—"मौनं चामौनं च निर्विद्य ब्राह्मणः" इति "विपापो विरजोऽविचिकित्सो ब्राह्मणो भवति" इति च ॥४०॥

नील०—एतदेव स्पष्टयति–विद्यादिति। विद्यादित्यर्द्धेनापरोक्षज्ञानस्य व्यावृत्तिरुच्यते। उक्तमेवापसहरति–सत्यात् प्रत्यगद्वयानंदात्। तथाच श्रुतिः। "यो एतदक्षरं गार्गि विदित्वाऽस्माल्लोकात्प्रैति स ब्राह्मणः" इत्यपरोक्षज्ञानिनो ब्राह्मण्यमुक्त्वाऽर्थादितरस्याब्राह्मणत्वं दर्शयति ॥४०॥

शब्दार्थः—बहुपठन्तम्=बहुत पढ़ने वाले ब्राह्मण को, तु=तो, बहुवाग्=बहुत बोलता है, इति=ऐसा, विद्यात्=समझना चाहिए और यः=जो महापुरुष, सत्यात्=सत्यस्वरूपब्रह्म से, न एव=नहीं अपैति=हटता है, त्वया=तुम्हारे द्वारा, सः ब्राह्मणः=वह ब्राह्मण; ज्ञेयः=जानने योग्य है ॥४०॥

सरलार्थः—ब्राह्मण कौन है? जो वेद-वेदाङ्गों में पारङ्गत है, उसे तुम केवल बहुभाषी ही जानो अर्थात् उसे ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मण न समझो। ब्राह्मण वही है जो सत्यात्मक ब्रह्म की ब्राह्मी स्थिति से कभी च्युत नहीं होता। तुम उसी को ब्राह्मण जानो ॥४०॥

भवेदेतदेवं यदि तदेव ब्रह्म सिद्ध्येत्, न च सिद्धयति अन्यपरत्वाद्वेदस्य तत्राह—

छन्दांसि नाम द्विपदां वरिष्ठ स्वच्छन्दयोगेन भवन्ति तत्र।
छन्दोविदस्तेन च तानधीत्य गता हि वेदस्यन वेद्यमार्याः ॥४१॥

शा० भा०—छन्दांसीति । हे द्विपदां वरिष्ठ, छन्दासि वेदाः स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दता स्वाधीनता यथाकाममित्यर्थः । तत्रैव परमात्मनि प्रमाणं भवन्ति । श्रूयते च—"सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति" "वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः" इति च । पुरुषार्थपर्यवसायित्वाद्वेदस्य तद्व्यतिरिक्तस्य अनित्याशुचिदुःखानुविद्धत्वेन पुरुषार्थत्वाभावात्तत्स्वरूपत्वतत्साधकत्वतत्प्रतिपादकत्वेन वेदानां प्रमाणत्वमित्यर्थः । यस्माद्वेदाः स्वच्छन्दयोगेन तत्रैव परमात्मनि प्रमाणं भवन्ति, तेन च हेतुना तान्वेदानधीत्य अवगम्य वेदान्तश्रवणादिकारणं कृत्वा गताः प्राप्ताः वेदस्य संविद्रूपस्य परमात्मनः स्वरूपं, न वेद्यं प्रपञ्चम् आर्याः पंडिताः ब्रह्मविदः ॥ ४१ ॥

नील०—छन्दांसि नामेति । द्विपदां मनुष्याणां मध्ये वरिष्ठ । तत्र सत्ये ब्रह्मणि विषये छन्दांसि वेदाः स्वच्छन्दयोगेन स्वातन्त्र्यसम्बन्धेनैव भवन्ति कर्मकांडार्थज्ञानवत् ब्रह्मकाण्डार्थज्ञान न मध्येऽनुष्ठानान्तरमपेक्षते । तथाहि "तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च" इतिश्रुत्या दर्शनसार्वात्म्ययोर्मध्ये तिष्ठन् गायतीत्यादौ तिष्ठतिगायत्योर्मध्ये इव कार्यान्तरं वार्यते । तेन च ज्ञातेन सत्येन चकार एवकारार्थे तेनैवेत्यर्थः । छन्दोविदो भवन्ति न कर्ममात्रज्ञानेन तान् छन्दोज्ञान् अधीत्य प्राप्य आर्याः वेदस्य वेद्यं वेदनीयं ब्रह्म न गता इति न, अपितु गताः प्राप्ता एवेत्यर्थः । एतेन "तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्" इत्यस्याः श्रुतेरर्थो दर्शितः ॥ ४१ ॥

शब्दार्थः—द्विपदां वरिष्ठ=राजन्, छन्दांसि नाम=प्रसिद्ध वेद, स्वच्छन्दयोगेन=स्वतन्त्ररूप से, तत्र=भगवान् के प्रतिपादन में, भवन्ति=प्रमाणरूप हैं । तेन=इसी लिए, छन्दोविदः=वेदों के ज्ञाता, आर्याः=आर्य लोग, तान्=वेदों को, अधीत्य=स्वाध्याय करके, हि =वस्तुतः वेदस्य=वेदों के, वेद्यम्=प्रतिपाद्य ब्रह्म को, गताः = प्राप्त हुए हैं । न=अन्य कुछ नहीं ॥ ४१ ॥

सरलार्थः—हे नरश्रेष्ठ, छन्द अर्थात् वेद उस परब्रह्म में स्वच्छन्द रूप से स्थित हैं अर्थात् परमात्म ज्ञान में वे स्वतः प्रमाण हैं । वे परमात्मावबोध के लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं रखते । इस लिए वेदवेत्ता श्रेष्ठजन उनका अध्ययन करके ही ज्ञेयरूप परमात्मा को जान लेते हैं ॥ ४१ ॥

एवं तर्हि वेदवेद्यत्वे "अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितात्" यतो वाचो निवर्तंते" इत्यादिविरोधः प्रसज्येतेत्यत्राह—

न वेदानां वेदिता कश्चिदस्ति वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम् ।
यो वेद वेदं स च वेद वेद्यं यो वेद वेद्यं न स वेद सत्यम् ॥४२॥

शा० भा०—न वेदानामिति । न वेदानामृगादीनां मध्ये कश्चिदपि वेदः परमात्मनो वाचामगोचरस्य संविद्रूपस्य वेदिताऽस्ति; कस्मात् ? यस्माद्वेद्येन

जडरूपेण वेदं संविद्रूपं न विदुः । न वेद्यं, प्रपंचमपि न विदुः । संविदधीनत्वात्सर्वसिद्धेः । यस्मात्संविदधीना सर्वसिद्धिस्तस्माद्यो वेदं संविद्रूपं परमात्मानं वेद जानाति स च वेद वेद्यमिदं सर्वम् । तथाच श्रुतिः—"आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" इति । "एकविज्ञानेन सर्वं विज्ञातम्" इति च । यो वेद्यमिदं रूपं वेद जानाति स सत्यं सत्यादिलक्षणं परमात्मानं न वेद ॥ ४२ ॥

नील०—तथापि ब्रह्मणो दुर्ज्ञेयत्वमाह—नेति । वेदाना वेद्यानामहंकारादीनां चेतनानां मध्ये कश्चिद्वेदिता नास्ति अतो हेतोर्वेद्येन चेतसा वेद वेदबोध्यमात्मानं विदुः । नापि वेद्यमनात्मानमपि न विदुः । आत्माऽनात्मा च न जडस्य विषय इत्यर्थः । ननु जडया धीवृत्त्या आत्मा ज्ञायत एव "दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या" इति श्रुतेरित्याशंक्याह वेदमात्मानं यो वेद स एव वेद्यमनात्मानं सर्वं वेद, आत्मप्रभवत्वात्सर्वस्य । यस्तु बहिर्मुखः वेद्यमनात्मानं वेद स सत्यं ब्रह्म न वेद तथाच श्रुती भवतः । "आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्" । पराञ्चि खानि व्यतृणत्स्वयं भूस्तस्मात्पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्" इति । व्यतृणत् हिंसितवान् ॥ ४२ ॥

शब्दार्थः—वेदानाम्=वेदों का, कश्चित्=कोई, वेदिता न अस्ति=जाननेवाला नहीं है, वेद्येन=जानने योग्य बुद्धि द्वारा, न=नहीं, वेदम्=ब्रह्मस्वरूप वेद को, न तो, वेद्यम्=ब्रह्मतत्त्व को, विदुः=जान सकते हैं । च=किन्तु, यः=जो, वेदम्=ज्ञानस्वरूप वेद को, वेद=जानता है, सः=वही, वेद्यम्=ब्रह्म के तत्त्व को भी, वेद=जानता है तथा, यः=जो, वेद्यम्=जगत् प्रपंच को ही, वेद=जानता है, सः सत्यं न वेद=यथार्थ ब्रह्म तत्त्व को नहीं जानता ॥ ४२ ॥

सरलार्थः—वास्तव में कोई भी ऐसा नहीं है, जो वेदों के परम रहस्य को जान सके. क्योंकि ज्ञेय मन-बुद्धि आदि के द्वारा न तो कोई वेद के रहस्य को जान पाता है और न जानने योग्य परमतत्त्व को ही जानता है । जो ज्ञानस्वरूप वेद को जानता है, वही यथार्थ में जानता है । जो मनुष्य कर्म विधायक वेद को जानता है, यह बुद्धि सादर ज्ञेय प्रपञ्च जगत् को ही जानता है और जो वेद्य अर्थात् बुद्धि द्वारा जानने योग्य लौकिक पदार्थों को ही जानता है अर्थात् सकामभाव से जो कर्म करता है वह यथार्थ ब्रह्मतत्त्व को नहीं जानता ॥ ४२ ॥

नन्वेवं तर्हि "वेद्येन वेदं न विदुर्न वेद्यम्" इति वदतो अनात्मविदः प्रपंचसिद्धिरेवेत्युक्तं भवतीत्याशंक्याह—

यो वेद वेदान् स च वेद वेद्यं न तं विदुर्वेदविदो न वेदाः ।
तथाऽपि वेदेन विदंति वेदं ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति ॥ ४३ ॥

शा० भा०—यो वेदेति। यो वेद जानाति ऋगादीन्वेदान् स च वेद वेद्यं सोऽप्यनात्मविदविच्छिन्नेन संवेदनेन वेद्यं प्रपञ्चं वेद। नन्वेवं चेत्तर्हि वेदवित्परमात्मानं विजानीयादित्याशंक्याह—न तं परमात्मानं वाचामगोचरं विदुर्वेदविदः। न वेदाः, वेदा अपि न तं विदुः न तं विषयीकुर्वन्तीत्यर्थः। कथंचिल्लक्षणया बोधयन्तीति भावः। नन्वेवं तर्हि कथमौपनिषदं ब्रह्म स्यात्, नेत्याह—तथापि वेदेन विदन्ति वेदं यद्यपि वागाद्यविषयं ब्रह्म तथापि वेदेन ऋगादिना विदन्ति जानन्ति वेदं संविद्रूपं परमात्मानम्। के ते? ये ब्राह्मणा वेदविदो भवन्ति। वेदानाम् वेदप्रतिपादनप्रकारं जानन्तीत्यर्थः॥ ४३॥

नील०—किंच यश्चिदात्मा सर्वेषां प्रत्यक्त्वेन प्रसिद्धः, वेदान् वेदयन्ति ते वेदाः तान् प्रमाणानि वेद स एव वेद्यं प्रमेयमपि वेद नतु तानि वेद्यं विदुर्जडत्वात् तं च "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो ये मनो विदुः" इति प्राणादीनां प्रवर्तकत्वेन प्रसिद्ध वेदाः प्रमाणानि वेदविदः प्रमातारश्च न विदुः "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह" इति तस्य वाङ्मनसातीतत्वश्रुतेः। यद्यप्येवं तथापि वेदं वेदितारमात्मानं वेदेनैव प्रमाणेन अहं ब्रह्मास्मीत्यादिना विदन्ति जानन्ति, के ते ये ब्राह्मणाः वेदविदो वेदं पाठतोऽर्थतोऽनुष्ठानतश्च विदन्ति ते वेदविदः अध्ययनयज्ञादिना संस्कृतचित्ता एव वाक्यादात्मानं लक्षणया जानन्ति न त्वन्ये इत्यर्थः।४३।

शब्दार्थः—च यः=और जो, वेदान् वेद=वेदों को जानता है, स च=यह तो, वेद्यन्=सृष्टि के रहस्यों को, वेद=जानता है। (किन्तु) तम्=उस परम आत्म-तत्व को, वेदविदः=वेदपाठी लोग, न विदुः=नहीं जान पाते हैं, न=न तो, वेदाः=वेद ही जान पाते हैं, तथापि=तो भी, ये=जो, ब्राह्मणाः=ब्राह्मण, वेदविदः=वेद के रहस्य को जानने वाले, भवन्ति=होते हैं। ते=वे, वेदेन=वेद से ही, वेदम्=परम आत्मतत्त्व को, विदन्ति=जान लेते हैं॥ ४३॥

सरलार्थः—जो ब्रह्मनिष्ठ श्रोत्रिय वेदों के रहस्य को जानता है, वह जानने योग्य परमतत्त्व को भी जान लेता है। परन्तु उस ज्ञेय परमात्मतत्त्व को वाङ्मय स्वरूप वेद भी नहीं जानते और उन वेदों का ज्ञाता-अध्येता भी नहीं जानता। फिर भी जो ब्रह्मवत्ता महापुरुष हैं, वे उस वेद के द्वारा ही वेद के रहस्य को जान लेते हैं। वे ही ब्राह्मण यथार्थतः वेदों के ज्ञाता कहे जाते हैं। तात्पर्य यह है कि शब्द ज्ञान मात्र से ही वेद का रहस्य-परम तत्व नहीं जाना जा सकता। अन्तःकरण की शुद्धि हो जाने पर उनका बार-बार चिन्तन-मनन करने पर ही उसमें निहित परमात्मतत्व को जान सकते हैं॥ ४३॥

कथं तर्हि अविषयमेव ब्रह्म वेदाः प्रतिपादयन्तीत्याशंक्याह—

धामांशभागस्य तथाहि वेदा यथा च शाखा च महीरुहस्य।
संवेदने चैव यथाऽऽमनन्ति तस्मिन्हि नित्ये परमात्मनोऽर्थे॥४४॥

शा० भा०—धामेति। धामांशभागस्य, "रात्रिधामश्चन्द्रः" इति श्रुतेः चंद्रांशभागस्य। प्रतिपच्चन्द्रकलादर्शने यथा महीरुहस्य वृक्षस्य शाखा हेतुर्भवति तथा वेदास्तस्यैव परमात्मनः स्वरूपभूतसंवेदने नित्येऽविनाशिन्यर्थे परमपुरुषार्थरूपे हेतवो भवन्ति। न पुनः साक्षाद्वाचामगोचरं परमात्मानं प्रतिपादयन्ति, एवमामनन्ति ॥ ४४ ॥

नील०—इदमेव दृष्टान्तेन प्रतिपादयति—धामांशेति। धाम तेजः तन्मया अंशा यस्य स तेजोमयोऽर्थाच्चन्द्रः तस्य भागः कला प्रतिपद्गता तस्य संवेदने ज्ञाने यथा च यथैव हि प्रसिद्धं महीरुहस्य शाखा उपादीयते तथाहि तथैव वेदाः परमात्मनः संवेदनेऽर्थे परमपुरुषार्थरूपे सत्ये सर्वथाऽप्यबोध्ये वेदाः उपादीयन्ते इति आमनन्ति। तं त्वौपनिषदं पुरुषं पृच्छामीत्यौपनिषदत्वविशेषणात् वाचामगोचरत्व श्रुतेश्च सोऽयं देवदत्त इत्यादिवाक्यवत्तत्त्वमस्यादिवाक्यमपि लक्षणया स्वार्थं प्रतिपादयत्येवेत्यर्थः ॥ ४४ ॥

शब्दार्थः—च=और, यथा=जिस तरह, महीरुहस्य=वृक्ष की, शाखा=डाल हि=ह, धामांशभागस्य=द्वितीया के चन्द्रदर्शन के लिए. यथा=हेतु बनायी जाती तथा=उसी प्रकार, हि=ही, वेदाः=सभी वेद, परमात्मनः=परमात्मा के ही, नित्ये उस शाश्वत तस्मिन् सवेदने=ज्ञान स्वरूप अनुभूति, अर्थे=के निमित्त, च भी, एव=संकेत से, आमनन्ति=प्रतिपादन करते हैं ॥ ४४ ॥

सरलार्थः—द्वितीया के चन्द्रमा की कला इतनी सूक्ष्म होती हैं कि उसको दिखाने के लिए किसी वृक्ष की शाखा की ओर संकेत किया जाता है। वैसे ही उस सत्यस्वरूप परमात्मा का ज्ञान कराने के लिए ही वेदों का भी उपयोग किया जाता है, ऐसा विद्वान् लोग मानते हैं। इसी भाव को मुनि बादरायण ने "शास्त्रयोनित्वात्" (ब्र० सू० १।१।३) सूत्र द्वारा प्रकट किया। तात्पर्य है कि वेद-शास्त्र ब्रह्मज्ञान के लिए मूलकारण स्वरूप हैं ॥ ४४ ॥

य एवं वेदानां वेदरूपात्मप्रतिपादनप्रकारमवगम्य व्याचष्टे, सोऽपि ब्राह्मण इत्याह—

अभिजानामि ब्राह्मणमाख्यातारं विचक्षणम्।
परं हि तत्परं ब्रह्म जानात्येव हि ब्राह्मणः ॥ ४५ ॥

शा० भा०—अभीति। यो वेदप्रतिपादनप्रकारं व्याचष्टे तमाख्यातारं विचक्षणं ब्राह्मणमभिजानामि। ननु बाल्यपाण्डित्यादिकं निर्विद्यावस्थितमेव ब्राह्मणं ब्रूते श्रुतिः। तथाहि "ब्राह्मणः पाण्डित्यं निर्विद्य बाल्येन तिष्ठासेत् तथा बाल्यं च पाण्डित्यं च निर्विद्याथ मुनिर्भवति। मौनं चामौनं च निर्विद्याथ ब्राह्मणः

इति । कथमुच्यते अभिजानाभि ब्राह्मणमाख्यातारं विचक्षणमिति तत्राह–वेदानां वेदप्रतिपादनप्रकारं मयोक्तं यो हि जानाति परं हि तत्परं ब्रह्म जानात्येव यो हि पाण्डित्यं निर्विद्य स्थितः स क्षिप्रं बाल्यादिकं निर्विद्य ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः ॥ ४५ ॥

नील० — एवं गुरूपसदनपूर्वक वाक्यार्थप्रतिपत्त्युपायमुक्त्वा गुरुलक्षणान्याह– अभीति । ब्राह्मणं ब्रह्मविदं लक्षणतोऽभिजानामि । लक्षणमेवाह आख्यातारम् उपक्रमोपसंहारैकरूप्यादिषड्विधतात्पर्यलिंगानुसारेण वाक्यार्थवर्णनकुशलं विचक्षण श्रुतार्थस्य युक्तिभिरनुचिन्तने समर्थं निदिध्यासनपरिपाकेनापरोक्षसाक्षात्कारबलात् । ४५ ॥

शब्दार्थः - विचक्षणम् = कुशल आख्यातारम्=तत्त्ववक्ता को ही, ब्राह्मणम् = ब्राह्मण करके, अभिजानामि = मैं जानता हूँ । यः=जो ब्राह्मण, हि = वस्तुतः एव = इस प्रकार से, अभिविजानाति=जानता है, सः=वह, तत् = उस, परम्=परब्रह्म को, जानाति=जानता है ॥ ४५ ॥

सरलार्थः—हे राजन् मैं उसी को कुशल ब्राह्मण मानता हूँ, जो इस प्रकार वेद के तात्पर्य को समझ कर उसका ठीक-ठीक व्याख्यान करता है और वही परब्रह्म को भी जानता है ॥ ४५ ॥

यस्मात्सत्यनिष्ठस्यैव ब्राह्मणत्वप्रसिद्धिस्तस्माद्विषयपरो न भवेदित्याह—

नास्य पर्यषणं गच्छेत्प्रत्यर्थिषु कथंचन ।
अविचिन्वन्निमं वेदे ततः पश्यति तं प्रभुम् ॥ ४६ ॥

शा० भा०—नास्येति । नास्य जगतः पर्येषणं गच्छेद्विषयान्वेषणपरो न भवेदित्यर्थः । प्रत्यर्थिषु प्रतिपक्षभूतदेहेंद्रियादिनिमित्तम् अविचिन्वन्विषयसंचयमकुर्वन्निमं प्रत्यगात्मानं वेदे उपनिषत्सु तत्त्वमस्यादिवाक्येषु, ततः पश्चात्पश्यति तं प्रभुं परमात्मानं आत्मत्वेन जानातीत्यर्थः ।

अथवा, नास्यात्मनः पर्येषणम् अन्वेषणं गच्छेत् । प्रत्यर्थिषु प्रतिपक्षभूतदेहेन्द्रियादिषु देहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेन न गृह्णीयादित्यर्थः । अविचिन्वन् देहेन्द्रियतद्धर्मानात्मत्वेन असंचिन्वन्, तत्साक्षिणमात्मानमेव प्रतिपद्यमानः तत्त्वंपदार्थशोधनानन्तरमिमं प्रमात्रादिसाक्षिणं परमात्मानं पश्यति । देहेन्द्रियादिकमात्मत्वेनाप्रतिपद्यमानः तत्त्वमस्यादिवाक्यैः परमात्मानमात्मत्वेन पश्यतीत्यर्थः ॥४६॥

नील० — एतदेवाह–नास्येति । प्रत्यर्थिषु आत्मत्वेन प्रथमानेष्वनात्मसु पंचसु कोशेषु पर्येषणमन्वेषणं न गच्छेन्न कुर्यादित्यर्थः । कथंच नेत्यव्यक्तमालम्बनं क्लेशसाध्यमिति सूचयति — "अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते" इति स्मृतेः । वेदे इममात्मानं अविचिन्वन्वेदान्तन्यायानपर्यालोचयन्नित्यर्थः । ततः पश्चात् तं प्रभुं पश्यति, तं पश्यति निष्कलं ध्यायमान इति श्रुतेः ॥ ४६ ॥

शब्दार्थः—अस्य = इस अपने आत्मा की, पर्येषणम्=खोज, कदाचन=क प्रत्यर्थिषु=विषयों में, न = नहीं, गच्छेत्=करे (क्योंकि) इमम्=इस सुख स आत्मा को, अविचिन्वन्=विषयों में न ढूँढ़नेवाला ही, ततः=तदनन्तर, वेदे=वे तम्=उस, प्रभुम्=परम विभववान् को, पश्यति=देखता है ॥ ४६ ॥

सरलार्थः—आत्मतत्त्व का अनुसन्धान अनात्म पदार्थों में न करें, कारण आत्मतत्त्व अन्तर्मुखी वृत्ति की अपेक्षा रखता है जब के विषय-भोगों से व्यक्ति चित्त बहिर्मुखी ही होता जाता है। तात्पर्य है कि भोगों को भोगने से ही उ अनिच्छा उत्पन्न होने से आत्मलाभ हो, ऐसा नहीं है, बल्कि अग्नि में घृत भाँति वह अधिकाधिक अनात्म पदार्थों की ओर उन्मुख होता जाता है।

इस प्रकार देह-इन्द्रिय आदि अनात्म विषयों में उसको न ढूढ़ते हुए वेद उपनिषद् वाक्यों में ही श्रद्धापूर्वक आत्मतत्त्व को ढूँढ़ता है, वही इस परमतत्त्व दर्शन करता है ॥ ४६ ॥

यस्मादेवं तस्मात्—

तूष्णींभूत उपासीत न चेच्छेन्मनसा अपि ।
अभ्यावर्तेत ब्रह्मास्मै ब्रह्मनन्तरमाप्नुयात् ॥ ४७ ॥

शा० भा०—तूष्णामिति । यस्मात्सर्वविषयपरित्याग एवात्मदर्शनसि तस्मात्तूष्णींभूतः स्वात्मव्यतिरिक्तं सर्वं परित्यज्य केवलो भूत्वा स्वात्माव लोकनुपासति। नचेच्छेन्मनसा अपि विषयेन्द्रियेच्छां न कुर्यात् । यस्तूष्णीं विषयोपसंहारं कृत्वा स्वात्मानमेव लोकनुपास्ते, अस्मै तूष्णींभूताय ब्राह्म ब्रह्म अपूर्वादिलक्षणं अभ्यावर्तेत अभिमुखीभवेदित्यर्थः। श्रूयते च "यमेवैष तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्" इति । अनन्तरमाविर्भूतस्व सन् बहु भूमानं तमसः परं परमात्मानमाप्नुयात् ॥ ४७ ॥

नील०—तूष्णींभूत इत्यनेन वागादिबाह्येन्द्रियव्यापारोपरम उक्तः । म नचेच्छेदित्यनेन मानसव्यापारोपरम उक्तः ॥ ४७ ॥

शब्दार्थः—तूष्णीम्भूतः=मौनभाव को प्राप्त होकर, उपासीत=उपासना मनसाऽपि=मन से भी, न इच्छेत्=विषयों की इच्छा न करे, अभ्यावर्तेत=सम्मुख जाता है, आप्नुयात्=प्राप्त कर लेता है ॥ ४७ ॥

सरलार्थः—वाक् आदि बाह्य-अनात्म पदार्थों को सब प्रकार से चेष्टा करके मन से भी उनका ध्यान न करते हुए आन्तरवृत्ति होकर परमात्मा की उपासना करे अर्थात् ब्रह्ममय स्थिति में लीन रहे। इस प्रकार उपासना करने साधक सदा ब्रह्म के सम्मुख हो जाता है अर्थात् उसे 'अहं ब्रह्मास्मि' इस प्रका

आत्म-साक्षात्कारात्मक ज्ञान हो जाता है। तदनन्तर वह बहुरूपात्मक परब्रह्म से अपृथक् ही रहता है ॥ ४७ ॥

मुनिरप्येष एवेत्याह—

मौनाद्धि मुनिर्भवति नारण्यवसनान्मुनिः ।
अक्षरं तं तु यो वेद स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते ॥ ४८ ॥

शा० भा०—मौनाद्धीति । मौनात्पूर्वोक्तात्तूष्णींभावादेव मुनिर्भवति न पुनरण्यवासमात्रान्मुनिर्भवति । तेषामपि तूष्णींभूतानां मध्ये यस्तु पुनरक्षरमविनाशिनं तं परमात्मानं वेद "अयमहमस्मि" इति साक्षाज्जानाति स मुनिः श्रेष्ठ उच्यते । श्रूयते च—"एतमेव विदित्वा मुनिर्भवति" इति ॥ ४८ ॥

नील०—मौनात् ध्यानमात्रान्मुनिर्भवति न अरण्यवासात् संन्यासमात्रात् किं तर्हि योऽक्षरं प्रत्यगात्मनो लक्षणं जगज्जन्मादिहेतुत्व सच्चिदानन्दात्मकत्वं च वेद जानाति स श्रेष्ठः संन्यासिभ्यो योगिभ्यश्च ज्ञानी श्रेष्ठ इत्यर्थः ॥ ४८ ॥

शब्दार्थः—हि = वस्तुतः साधक, मौनात् = बुद्धि गुहा में अनुसंधान करने से, मुनिः=मनन करने वाला, भवति=होता है, अरण्यवसनात्=अरण्य वास से ही, मुनिः= मुनि, न=नहीं हो सकता, तु=अर्थात्, यः=जो कोई, तम्=उस, अक्षरम्=अविनाशी आत्मा को, वेद=जान जाता है, स=वही, मुनि श्रेष्ठः = मुनियों में श्रेष्ठ, उच्यते= कहा जाता है ॥ ४८ ॥

सरलार्थः— पूर्वोक्त आत्मचिन्तन रूप मौन धारण से ही साधक मुनि होता है, केवल अरण्यवास और काषाय वस्त्र धारण करने से नहीं। अतः जो आत्मचिन्तन में लीन होकर अविनाशी परब्रह्म को जान लेता है, वही श्रेष्ठ मुनि है ॥ ४८ ॥

वैय्याकरणोऽप्येष एवेत्याह—

सर्वार्थानां व्याकरणाद्वैय्याकरण उच्यते ।
तन्मूलतो व्याकरणं व्याकरोतीति तत्तथा ॥ ४९ ॥

शा० भा०—सर्वेति । सर्वार्थानां व्याकरणाद्वैय्याकरण उच्यते, न पुनः शब्दैकदेशव्याकरणात् वैय्याकरणो भवति । भवतु सर्वार्थानां व्याकरणाद्वैय्याकरणत्वं, ततः किमिति चेत्तत्राह—उन्मूलतो व्याकरणं । पूर्वोक्तादक्षराद्धि सर्वस्य नामरूपप्रपञ्चस्य व्याकरणम् । श्रूयते च "अनेन जीवेन आत्मनाऽनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणि" इति । तस्माद् ब्रह्मण एव साक्षाद्वैय्याकरणत्वम् व्याकरोति तत्तथा विद्वानपि तद् ब्रह्म तथैव व्याकरोतीति वैयाकरणः ॥ ४९ ॥

नील०— सर्वार्थानां व्याकरणात् प्रकटीकरणात् सर्वज्ञत्वादयं ज्ञानी वैयाकरण इत्युच्यते तच्च व्याकरण केचिद्योगजधर्मप्रत्यासत्या वदन्ति तन्निराचष्टे। मूलत

इति। आत्मज्ञानाद्धि सर्वविज्ञानं श्रूयते न प्रधानज्ञानात् अन्यतो वा। मूलत इति ल्यब्लोपे पञ्चमी मूलं कारणं ब्रह्म प्राप्येत्यर्थः। तत्र व्याकर्ता परमात्मैव तन्नाम रूपाभ्यामेव व्याक्रियत नामरूपे व्याकरवाणीति श्रुतिभ्यामित्याह व्य करोतीति। भौ व्युत्पत्तिप्रदर्शनमेतत् ॥ ४९ ॥

शब्दार्थः—सर्वार्थानाम्=सब शब्दार्थों के भाव को, व्याकरणात्=स्पष्ट करने से कोई, वैयाकरणः=व्याकरण का पंडित, उच्यते=कहा जाता है। तथा=उसी तरह तत्=उस ब्रह्म को, व्याकरोति=जो स्पष्ट बतलाता है, इति=इसे भी पंडित समझो। तन्मूलतः=इस सृष्टि के मूलतत्व से. व्याकरणम्=अर्थों का प्रकटीकरण होता है।।४९

सरलार्थः—जिस प्रकार लोक में समस्त शब्दों एवं वाक्यों के अर्थों को सा करने वाला वैयाकरण कहा जाता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण नामरूपों का प्रकटीकरण मूलभूत ब्रह्म से ही होता है, अथवा वही सम्पूर्ण अर्थों को मूलरूप से व्याकृत-व्यक्त करता है अतः वही मुख्य वैयाकरण है ॥ ४९ ॥

सर्वज्ञोऽप्येष एवेत्याह—

प्रत्यक्षदर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः।
सत्ये वै ब्रह्मणि तिष्ठंस्तद्विद्वान्सर्वविद् भवेत् ॥५०॥

शा० भा०—प्रत्यक्षेति। प्रत्यक्षदर्शी लोकानां यः प्रत्यक्षेण भूरादीन् लोकान्पश्यति स सर्वदर्शनो भवेत्, न सर्वरूपं परमात्मानं पश्यति। असौ पुनः सत्ये सत्यादिलक्षणे ब्रह्मणि तिष्ठन्मनः समादधाति। तद्विद्वान् सत्यादिलक्षणं ब्रह्म विद्वानात्मत्वेन सर्वं जानातीत्यर्थः। तस्मादेष एव सर्वज्ञो न अनात्ममात्रदर्शी ॥ ५० ॥

नील०—सार्वज्ञमपि ब्रह्मविदामनौपचारिकमित्याह- प्रत्यक्षे'त। सत्ये तिष्ठन् न तु वृत्यन्तरे देहाद्याकारे ब्राह्मणः ब्रह्मवित् तद्विद्वान् ब्रह्म विद्वानिति ब्राह्मणपद व्युत्पत्तिप्रदर्शनम् ॥ ५० ॥

शब्दार्थः - लोकानां=लोकों का, प्रत्यक्षदर्शी=प्रत्यक्ष द्रष्टा, नरः=मनुष्य सर्वदर्शी=सब जानने वाला, भवेत्=हो सकता है, वै=किन्तु वस्तुतः उस, सत्ये=सत्य, ब्रह्मणि=ब्रह्म में, तिष्ठन्=समाहित होनेवाला, विद्वान्=विद्वान्, सर्वविद्=सर्वज्ञ भवेत्=हो जाता है ॥ ५० ॥

सरलार्थः जो साधक सम्पूर्ण लोकों को प्रत्यक्ष देख लेता है, वह मनुष्य उन सब लोकों का द्रष्टा (सर्वदर्शी) कहा जाता है परन्तु जो उन लोकों के अधिष्ठानभूत एकमात्र सत्यस्वरूप ब्रह्म में स्थित है वही ब्रह्मनिष्ठ विद्वान् सर्वज्ञ कहलाता है ॥ ५० ॥

"यस्त्वेतेभ्यः" इत्यादिना उक्तमेवार्थं पुनरपि दर्शयति अवश्यकर्तव्यत्व-दर्शनार्थम्—

ज्ञानादिषु स्थितोऽप्येवं क्षत्रिय ब्रह्म पश्यति ।
वेदानां चारपूर्वेण चैतद्विद्वन्ब्रवीमि ते ॥ ५१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैय्यासिक्यामुद्योगपर्वणि धृतराष्ट्र-सनत्कुमारसंवादे श्रीसनत्सुजातीये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

शा० भा०—ज्ञानेति । ज्ञानादिषु "ज्ञानं च" (२-१९) इत्यादिना पूर्वोक्तेषु स्थितोऽपि एवं यथा सत्ये तिष्ठन् ब्रह्म पश्यति एवमेव ब्रह्म पश्यति । वेदानां चारपूर्वेण वेदान्तश्रवणादिकेनेत्यर्थः । अथवा गुणान्तरविधानमेतत् । ज्ञानादिषु स्थितोऽपि न केवलं तन्मात्रेण पश्यति अपि तु एवमेव वक्ष्यमाणप्रकारेण वेदान्त-विचारपूर्वेण वेदान्तश्रवणपूर्वकमेव पश्यति ब्रह्म । एतद्वेदानां चारं प्रकारं, हे विद्वन् ब्रवीमि वक्ष्यामीत्यभिप्रायः ॥ ५१ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकर-भगवतः कृतौ सनत्सुजातभाष्ये द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

नील० - अध्यायार्थमुपसंहरति—ज्ञानादिष्विति । ज्ञानं च सत्यं च दमः श्रुतं चेत्यादिषु द्वादशसु स्थितः तथा सत्यादिरूपे अष्टविधे अप्रमादे च स्थितः । एवं साधनवान् वेदेषु पूर्वोक्तेषु आरोपदृष्टिव्यामिश्रदृष्ट्यपवाददृष्टिरूपेषु आनुपूर्व्येण सोपानारोहणन्यायेन परमे पदे स्थितोऽहमेतत्स्वानुभवसिद्धं हे विद्वन् ते तुभ्यं ब्रवीमि । सोपानक्रमस्तु नृसिंहतापनीये श्रूयते "ओतानुज्ञात्रनुज्ञाऽविकल्पैः" इति । अस्यार्थः—

ओतत्वं कारणं व्याप्तिः कार्ये यद्वन्मृदो घटे ।
सर्वं ब्रह्मेति तन्निष्ठा जानते परिणामतः ॥ १ ॥
कार्यस्यासमवेतत्व कारणे समुदीरितम् ।
तदनुज्ञातृशब्दार्थो मरौ वारिविवर्तनम् ॥ २ ॥
एतन्निष्ठास्ततो भूत्वा जगन्मिथ्येति जानते ।
अनुज्ञायां जगत्तुच्छं शशशृङ्गादिवन्मतम् ॥ ३ ॥

एवं सोपानरीत्यैवं भूमित्रितयलंघनात् ।
अविकल्पं परं यत्तदहं ब्रह्मास्मि निर्भयम् ॥ ४ ॥ इति ॥५१॥

इति उद्योपर्वणि नैलकंठीये भारतभावदीपे सनत्सुजातीयटीकायां

द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

शब्दार्थः—क्षत्रिय=राजेन्द्र । एवम्=इस प्रकार, ज्ञानादिषु सत्य, ज्ञानादि स्थितः=स्थित होकर, अपि=भी, वेदानाम्=वेदों के, चारपूर्वेण=विचार पूर्वक ब्रह्म को, पश्यति=देखता है, च=और, ते=तुम्हारे लिए, एतत्=यह यथ ब्रवीमि=कह रहा हूँ ॥ ५१ ॥

सरलार्थः—हे राजन्, इस प्रकार ज्ञान, सत्य आदि का निरन्तर मनन क हुए ब्राह्मण ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है । हे विद्वन्, उस प्रकार वेदों का विधिवत् अध्ययन करने से उसमें निहित आत्मतत्त्व का चिन्तन करने से परमात्मा का साक्षात्कार होता है यह बात मैं तुम्हें निश्चयपूर्वक कहता हूँ ॥ ५१ ॥

इति श्रीसनत्सुजातीयदर्शने 'प्रज्ञा' हिन्दी व्याख्यायां द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

अथ तृतीयोऽध्यायः ।

इदानीं ब्रह्मचर्यादिसाधनप्रतिपादनानन्तरं तत्प्राप्यं च ब्रह्म प्रतिपादयितुं तृतीयचतुर्थावध्यायावारभ्येते । तत्र तावद्ब्रह्मचर्यादिसाधनं श्रुत्वा तद्वेदनाकांक्षी प्राह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच—

सनत्सुजात यदि मां परार्थां ब्राह्मीं वाचं वदसि हि विश्वरूपाम् ।
परां हि कार्येषु सुदुर्लभां कथां प्रब्रूहि मे वाक्यमेवं कुमार ॥ १ ॥

शा० भा०—सनत्सुजातेति । हे सनत्कुमार, यद्यस्मादिमा परार्थां ब्राह्मीं ब्रह्मसम्बन्धिनीं वाचं वदसि हि विश्वरूपां नानारूपां पराम् उत्तमां कार्येषु कार्यरूपेषु प्रपंचेषु सुदुर्लभां श्रवणायाप्यशक्यां कथां प्रब्रूहि मे वाक्यं एवंभूतं कुमार, यस्मात्त्वं ब्राह्मीं वाचं परमपुरुषार्थसाधनभूतां सुदुर्लभां वदसि तस्मात्त्वं वक्तुमर्हसीत्यभिप्रायः ॥ १ ॥

नील०—एव आत्मज्ञानमार्गं श्रुत्वा तस्यां तरङ्गसाधनं योगं श्रोतुं पृच्छति—सनत्सुजातेति । परा उक्तादपि अत्युत्कृष्टां ब्राह्मीं ब्रह्मप्रापिकां वाचं उपनिषदं वदसे जानीसे । भासनोपसंभाषाज्ञानेति तङ् । विश्वं रूप्यते प्रकाशतेऽस्यां, यां ज्ञातवतोऽन्यत् ज्ञातव्यं नावशिष्यत इत्यर्थः । कार्येषु प्रपंचेषु सुदुर्लभां कथां कथनीयां प्रब्रूहि हे कुमार इदं मे मम वाक्यं त्वां प्रति प्रार्थनारूपं वचनं अवधेहीति शेषः ॥ १ ॥

शब्दार्थः—सनत्सुजात=हे सनत्सुजात ! यद्=जो, इमां=यह, परार्थाम्=सर्वश्रेष्ठ, हि=तथा विश्वरूपाम्=विश्ववन्द्य, ब्राह्मीं वाचम्=ब्रह्म विद्या को, वदसि=प्रवचन कर रहा हो, हि=वस्तुतः वह, कार्येषु=जगत वर्ग में, पराम्=अलोकिक रूप, दुर्लभाम्=दुर्लभ है अतः उस, कथाम्=कथा को, मे=मुझे, प्रब्रूहि=सुनाएँ, कुमार=हे कुमार, एवम्=इस तरह मेरी, वाक्यम्=प्रार्थना है ॥ १ ॥

सरलार्थः—धृतराष्ट्र बोले—हे सनत्सुजात, आप जिस परमार्थस्वरूपा सर्वोत्तम और स्वरूपा विश्व की सारभूत ब्रह्मसम्बन्धिनी विद्या का उपदेश कर रहे हैं, वह कामी पुरुषों के लिए अत्यन्त दुर्लभ है । हे कुमार, कृपा करके आप मुझे पुनः इस कथा को विस्तारपूर्वक कहें, यही मेरी प्रार्थना है ॥ १ ॥

एवं पृष्ठः प्राह भगवान्—

सनत्सुजात उवाच—

नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन लभ्यं यन्मां पृच्छस्यभिषंगेण राजन् ।
बुद्धौ प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या विद्या हि सा ब्रह्मचर्येण लभ्या ।२।

शा० भा०—नैतदिति । नैतद् ब्रह्म त्वरमाणेन पुरुषेण लभ्यं यत् ब्रह्म पृच्छसि अभिषंगेण राजन् । कथं तर्हि लभ्यमित्याह—बुद्धौ अध्यवसायात्मिका प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या विद्या हि सा, यदा पुनः संकल्पविकल्पात्मकं मनः विषयेभ्यः परावृत्य स्वात्मन्येव निश्चलं भवतीत्यर्थः । येयं बुद्धौ प्रलीने मनसि प्रचिन्त्या सा विद्या ब्रह्मचर्येण वक्ष्यमाणेन लभ्या ॥ २ ॥

नील०—ब्रह्मविद्यायाः दुर्लभत्वं दर्शयन्सनत्सुजात उवाच—नैतदिति । हृष्यसि अहं ब्रह्मविद्याधिकार्यस्मीति हृष्यसि । पाठांतरे अभिषंगेण निर्बन्धेन । विद्यालक्षणमाह—बुद्धाविति । सर्वेषामिंद्रियाणां निरोधेन मनोमात्रमनुपरतं संकल्पाद्यात्मना तिष्ठति । तस्मिन्नपि अहं ब्रह्मास्मीति निश्चयस्वभावायां बुद्धौ विलीने सति प्रचिन्त्यं प्रगतं चिंत्य यस्यां सा निरुद्धसर्ववृत्तिका काचिदवस्था विद्येत्युच्यते । सा ब्रह्मचर्येण गुरुकुलवासेन लभ्या ॥ २ ॥

शब्दार्थः—राजन्=हे राजन् ! एतत्=यह, ब्रह्म=ब्रह्म, त्वरमाणेन=उतावलेपन से, न=नहीं. लभ्यम्=हृदयंगम हो सकता, यत्=जिससे कि, अभिषंगेण=आग्रह पूर्वक, मां=मुझसे, पृच्छसि=पूछ रहे हो क्योंकि, मनसि=मनको, बुद्धौ=बुद्धि गुहा में, प्रलीने=लीन होने पर, प्रचिन्त्या=चिन्तन में आती हैं किन्तु, हि=वास्तव में, सा=वह, विद्या=ब्रह्मविद्या तो, ब्रह्मचर्येण=ब्रह्मचर्य-व्रत से हो, लभ्या=उपलब्ध होती है ॥ २ ॥

सरलार्थः—ऋषि सनत्सुजात ने कहा—हे राजन्, जिस तत्त्वज्ञान के लिए तुम बार-बार प्रश्न करते हुए एकाएक हर्षित हो उठते हो और मुझसे शीघ्र प्राप्त करना चाहते हो परन्तु वह इतना शीघ्र उपलब्ध होने वाला नहीं है । वह ब्रह्मतत्त्व तभी प्राप्त हो सकता है जबकि बुद्धिरूप गुहा में मन के विलीन हो जाने पर ब्रह्मचर्य पूर्वक उसका बार-बार चिन्तन किया जाय अतः वह ब्रह्मविद् आचार्य की सन्निधि में ही हो सकता है ॥ २ ॥

किंच—

आद्यां विद्यां वदसि हि सत्यरूपां या प्राप्यते ब्रह्मचर्येण सद्भिः ।
यां प्राप्यैनं मर्त्यलोकं त्यजन्ति या वै विद्या गुरुवृद्धेषु नित्या ॥३॥

शा० भा०—आद्यामिति । आद्यां सर्वादिभूतब्रह्मविषयां विद्यां वदसि हि सत्यरूपां परमार्थरूपां मे ब्रूहीति ।

यद्वा, आद्यामकार्यभूतां असत्यप्रपंचाविषयां विद्यां वदसि तस्मादत्वरमाणेन ब्रह्मचर्यादिसाधनोपेतेन उपसंहृतान्तःकरणेनैव लभ्येत्यर्थः । या प्राप्यते ब्रह्मचर्येण सद्भिः । या प्राप्य एनं मर्त्यलोकं त्यजन्ति । या वै विद्या गुरुवृद्धेषु गुरुणा विद्याप्रदानादिना वृद्धेषु वर्द्धितेषु शिष्येषु नित्या नियता ॥ ३ ॥

नील०—किंच आद्यामिति । बुद्ध्याख्योपाधिसम्बन्धजनितकालुष्याद‌विविक्तनया न व्यक्तमव्यक्तं ब्रह्म तस्य विद्याम् । अयंभावः—यद्यपि ब्रह्म नित्यापरोक्षं आत्मत्वात् तथापि अशनायाद्यतीतस्य तस्य विविक्तस्य परोक्षत्वात्तदापरोक्ष्याय यत्नो युक्त इति ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—हि=अच्छा (तुम), सत्यरूपाम्=सत्य स्वरूप, आद्याम्=सर्वश्रेष्ठ ज्ञान को, वदसि=पूछ रहे हो, या=यह विद्या, सद्भिः=सद्पुरुषों द्वारा, ब्रह्मचर्येण=ब्रह्मचर्य-व्रत से ही, प्राप्यते=प्राप्त होती है, यां=जिसको, प्राप्य=प्राप्त करके, एनम्=इस, मर्त्यलोकम्=मृत्यु लोक को, त्यजन्ति=त्याग देते हैं, गुरुवृद्धेषु=श्रेष्ठ गुरुजनों में, नित्या=सदा प्रकाशित है ॥ ३ ॥

सरलार्थः—राजन्, आप जिस सत्यस्वरूप आदि विद्या-सर्वोत्तम ब्रह्मविद्या के विषय में पूछ रहे हो उसकी प्राप्ति सद्पुरुषों द्वारा अर्थात् साधन चतुष्टय सम्पन्न प्रमाता द्वारा आचार्य के समीप ब्रह्मचर्यपूर्वक वास करते हुए ही की जा सकती है । वह ब्रह्म विद्या सदा ब्रह्मवेत्ता गुरुजनों में प्रकाशित है जिसे प्राप्त कर मनुष्य मर्त्यभाव को त्याग देता है अर्थात् नित्य मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥

एवमुक्ते ब्रह्मचर्यविज्ञानायाह धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच—

ब्रह्मचर्येण या विद्या शक्या वेदितुमंजसा ।
तत्कथं ब्रह्मचर्यं स्यादेतद्ब्रह्मन्ब्रवीहि मे ॥ ४ ॥

शा० भा०—ब्रह्मचर्येणेति । या विद्या ब्रह्मचर्येण वेदितुं शक्या तत्साधनभूतं ब्रह्मचर्यं कथं स्यादेतद् ब्रह्मचर्यं ब्रह्मन् ब्रवीहि मे ॥ ४ ॥

नील०—अञ्जसा आर्जवेन ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—ब्रह्मन्=हे ब्रह्मर्षि ! ब्रह्मचर्येण=ब्रह्मचर्य द्वारा, या=जो, विद्या=विद्या, अंजसा=सुगमता से, वेदितुं=जानने के लिए, शक्या=सम्भव है, तत्=तो फिर वह, ब्रह्मचर्यम्=ब्रह्मचर्य, कथम्=कैसा, स्यात्=होता है । मे=मुझे, एतत् = यह । ब्रवीहि=बतावें ॥ ४ ॥

सरलार्थः—धृतराष्ट्र ने कहा—हे विद्वन्, यदि उस ब्रह्मविद्या का ज्ञान ब्रह्मचर्य के पालन से ही सम्भव है, तो सर्वप्रथम मुझे यह बताइये कि वह ब्रह्मचर्य पालन कैसे होता है ॥ ४ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान्सनत्सुजातः—

सनत्सुजात उवाच—

आचार्य्ययोनिमिह ये प्रविश्य भूत्वा गर्भं ब्रह्मचर्यं चरन्ति।
इहैव ते शास्त्रकारा भवन्ति विहाय देहं परमं यान्ति सत्यम् ॥५॥

शा० भा०—आचार्येति। आचार्ययोनिमिह ये प्रविश्य आचार्यसमीपं गत्वेत्यर्थः। भूत्वा गर्भं उपसदनादिना शिष्या भूत्वा ब्रह्मचर्यं गुरुशुश्रूषादिकं कुर्वन्ति। इहैवास्मिन्लोके शास्त्रकाराः शास्त्रकर्त्तारः पंडिता भवन्ति। ततो बाल्यादिकं निर्विद्य ब्राह्मणत्वारब्धकर्मक्षये विहाय देहं परमं यान्ति, सत्यं सत्यादिलक्षणं परमात्मानं प्राप्नुवन्ति ॥ ५ ॥

नील०—आचार्येति। योनिः स्थानं "योनिष्ट इन्द्र निषदे अकारि स्वे योनौ निषद तं सरूपा" इत्यादौ दर्शनात्। गर्भं भूत्वा तस्य निष्कपटसेवया अन्तरङ्गतां प्राप्येत्यर्थः। शास्त्रकाराः शास्त्रकर्तृत्वं ब्रह्मण्येव श्रुतं 'महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद् ऋग्वेदः" इत्यादिना। गुरोरनुग्रहादिहैव ब्रह्मभावं प्राप्नुवन्तीत्यर्थः। परमं अपुनरावृत्ति सत्य ब्रह्मणा सह ऐक्यं यान्ति ॥ ५ ॥

शब्दार्थः—ये=जो मुमुक्षु; इह = इस लोक में, आचार्ययोनिम्=आचार्य की सन्निधि में, प्रविश्य=प्रवेश करके, गर्भम्=अनन्य शिष्य, भूत्वा=होकर, ब्रह्मचर्यम्=ब्रह्मचर्य व्रत का, चरन्ति=आचरण करते हैं, ते=वे लोग, इह=इस लोक में, एव=ही, शास्त्रकाराः=शास्त्रमर्मज्ञ, भवन्ति=हो जाते हैं और, देहम्=इस देह को, विहाय=त्याग करके, परम=सर्वोच्च, सत्यम्=सत्यपद को, यान्ति=प्राप्त करते हैं ॥ ५ ॥

सरलार्थः—भगवान सनत्सुजात ने कहा—हे राजन् जो लोग आचार्य के आश्रम में जाकर अर्थात् आचार्य के समीप पहुँचकर और उनके वचनों में अमोघ निष्ठा रखते हुए उनका अनन्य भक्त होकर ब्रह्मचर्य के व्रत का पालन करते हैं, वे इस लोक में शास्त्रकार अर्थात् शास्त्रज्ञानी हो जाते हैं और मरणधर्मा देह को त्याग कर परम सत्य को प्राप्त कर लेते हैं।

भाव यह है कि ब्रह्मवेत्ता गुरु के समीप श्रद्धापूर्वक पहुँचकर जो उनका अनन्य शिष्य हो जाता है, वह गुरु के वचनों में श्रद्धा रखता है अनन्तर उसका हृदय निर्मल हो जाता है और गुरु का ब्रह्मज्ञान उसमें समाहित होने लगता है। गीता में कहा है—"यो यत् श्रद्धः स एव सः"। तात्पर्य है कि आचार्य

का हृदय ही उसका गर्भ है, उसमें प्रविष्ट हुआ शिष्य श्रद्धा की निर्मलता के कारण तद्रूप ही हो जाता है ॥ ५ ॥

किंच—

अस्मिँल्लोके विजयन्तीह कामान् ब्राह्मीं स्थितिमनुतितिक्षमाणाः ।
त आत्मानं निर्हरन्तीह देहात् मुंजादिषीकामिव धीरभावात् । ६ ।

शा० भा०—अस्मिन्निति । अस्मिँल्लोके विजयन्तीह कामान् ब्राह्मीमेव स्थितिं ब्रह्मण्येव स्थितिम् अनुतितिक्षमाणाः अनुदिनं क्षममाणाः ते आत्मानं देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं चिन्मात्रं निर्हरन्ति पृथक् कुर्वन्ति । किमिव ? मुंजादिषीकामिव । यथा मुंजादिषीकामन्तस्थां निर्हरन्ति, एवं कोशपंचकेभ्यो निष्कृष्य सर्वात्मानं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । केन ? धीरभावात् धैर्येण । श्रूयते च कठवल्लीषु ।

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा सदा जनानां हृदये सन्निविष्टः ।
तं ह स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मूंजादिवेषीकां धैर्येण तं विद्यात् शुक्रममृतम् ।६। इति

नील०—अस्मिन्निति । ये जितकामाः ब्राह्मीं स्थितिं प्राप्तुं ये च द्वन्द्वसहाः ते देहादात्मान निर्हरन्ति पृथक्कुर्वन्ति । श्रुतिश्च "तं स्वाच्छरीरात्प्रवृहेन्मुञ्जादिव इषीकां धैर्येण" इति । प्रवृहेत् पृथक् कुर्यात् ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—अस्मिन्=इस, लोके=नर लोक में, ब्राह्मी=ब्रह्ममयी, अनुतितिक्षमाणः = निरन्तर सँभालते हुए, इह=यहाँ ही, कामान्=कामनाओं को, विजयन्ति=जीत लेते हैं, धीरभावात्=धैर्यपूर्वक, मुञ्जात् = मूँज से, इषीकाः=सींक के अलग करने के, इव = समान, देहात्=अपने देह से, आत्मानम्=आत्मा को, निर्हरन्ति=पृथक् कर लेते हैं ॥ ६ ॥

सरलार्थः—इस संसार में जो कामनाओं को जीत लेते हैं और ब्रह्मपद को प्राप्त करने के लिए अनेक प्रकार के द्वन्द्वों को सहन करते हैं वे ही जैसे मूंज से सींक अलग कर दिया जाता है, उसी तरह सत्वगुण में स्थित होकर धीरता के कारण पाँच भौतिक देह को आत्मा से पृथक् रूप में जान लेते हैं ॥ ६ ॥

'आचार्ययोनिमिह' इति आचार्यस्य योनित्वं दर्शितम् । तत्कथं मातापितृव्यतिरेकेण आचार्यस्य योनित्वमित्याशंक्य स एव साक्षाज्जनयितेत्याह—

शरीरमेतौ कुरुतः पिता माता च भारत ।
आचार्यतश्च यज्जन्मतत्सत्यं वै तथामृतम् ॥ ७ ॥

शा० भा० शरीरमेताविति । शरीरमेवास्य तौ मातापितरौ कुरुतः, नात्मानं स्वरूपेण जनयतः यदिदं देहद्वयात्मना जन्म तदसत्यम्, आचार्यतस्तु यदिदं

चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मना जन्म जननं तत्सत्यं परमार्थभूतम्। तथैव
विनाशवर्जितं तस्मात्स एव जनयितेत्यर्थः। श्रूयते च—प्रश्नोपनिषदि—"त्वं
नः पिता यो अस्माकं अविद्यायाः परं पारं तारयसि' इति। तथा च
पस्तंबः—"स हि विद्यातस्तं जनयति तत् श्रेष्ठं जन्म शरीरमेव माताि
जनयतः" इति ॥ ७॥

नील०—आचार्यतः यज्जन्म तदेव सत्यं यथा ब्राह्मणस्य सावित्रीप्राप्त्या
द्वितीयं जन्म। एवं आचार्यात् परब्रह्मविद्याप्राप्त्याऽपि तस्य जन्मान्तरं भवति।
मोक्षहेतुत्वादिगुणसंयुक्तम् ॥ ७॥

शब्दार्थः -भारत = हे राजन्, एतौ = ये दोनों, पिता = पिता, शरीरम् =
स्थूल शरीर को, कुरुतः = बनाते हैं, आचार्यतः = आचार्य से, यत् = जो, जन्म
जन्म होता है, तत् = वही, सत्यम् = सत्य है, अमृतम् = अमर है ॥ ७॥

सरलार्थः - हे भारत, यद्यपि माता-पिता दोनों ही इस शरीर को जन्म देते हैं
परन्तु आचार्य के गर्भ से जो जन्म प्राप्त होता है, परमार्थ रूप में वही सत्य
अमृत स्वरूप है। भाव यह है कि जन्म-मरणादि बन्धन से युक्त देह की उत्पत्ति
ही माता और पिता का योगदान रहता है, परन्तु आचार्य के समीप जाकर
अज्ञानान्धकार से दूर होकर ज्ञान द्वारा अमृतमय परब्रह्म को पा लेता है ॥ ७॥

यस्मादाचार्याधीना परमपुरुषार्थसिद्धिस्तस्मात्—

स आवृणोत्यमृतं संप्रयच्छन् तस्मै न द्रुह्येत्कृतमस्य जानन्।
गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत स्वाध्यायमिच्छेच्च सदाऽप्रमत्तः॥

शा० भा०—सेति। स आवृणोति आपूरयति अमृतं पूर्णानन्दं ब्रह्म,
त्वेन सम्प्रयच्छन्, तस्मै आचार्याय न द्रुह्येत् द्रोहं नाचरेत्। तथाच श्रुतिः

"यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः॥" इति।

तथा चापस्तम्बः "तस्मै न द्रुह्येत् कदाचन स हि विद्यातस्तं जनयति"
इति। कृतमस्य जानन्, अस्येति तृतीयार्थे षष्ठी। अनेनात्मनः कृतमुपकारं
जानन्। कथं तर्हि कर्त्तव्यमित्याह—गुरुं शिष्यो नित्यमभिवादयीत देववदा-
चार्यमुपासीत। तथाच श्रुतिः—'"यस्य देवे" इति। तथा स्वाध्यायमिच्छेत्
श्रवणादिपरो भवेच्च। सदाऽप्रमत्तः अप्रमादी सन् ॥ ८॥

नील०—आचार्यमाहात्म्यप्रख्यापकं मन्त्रं पठति—स आवृणोतीति। यः आवृणोति
वर्णान् ब्राह्मणादीन् अवितथेन वितथमनृतमनात्मा जडं तदन्येन सत्येन चिदा-
प्रकर्षेण आवृणोति स बाह्याभ्यन्तरं वासयति, द्वैतोत्थभयनिवारणेन पालयतीत्यर्थः

स्य फलमाह—अमृतं सम्प्रयच्छन्निति । अमृतं मोक्षं कृतं तत्कृतमुपकारं अप्रमत्तः गुरुशुश्रूषायां सावधानः ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—स = वह गुरु, अमृतम् = अमृततत्त्व, संप्रयच्छन् = प्रदान करता हुआ, आवृणोति = परिपूर्ण कर देता है अतः, अस्य = इस गुरु के, कृतम् = उपकार को, जानन् = जानता हुआ, शिष्यः = शिष्य, तस्मै = उसके लिए, न = कभी नहीं, द्रुह्येत् = द्रोह रखे और, गुरुम् = गुरु चरण का, नित्यम् = नित्य ही, अभिवादयति = अभिवादन करे, च = और, सदा = सर्वदा, अप्रमत्तः = सावधान होकर, स्वाध्यायम् = स्वाध्याय में, इच्छेत् = प्रवृत्त रहे ॥ ८ ॥

सरलार्थः—आचार्य अपने उपदेश द्वारा शिष्य को अमृतत्त्व प्रदान करता है । अतः शिष्य को चाहिए कि वह गुरु के इस उपकार को मानता हुआ उनसे कभी द्रोह न करें । उसे सदा प्रमादरहित होकर गुरु को प्रणाम करना चाहिए एवं वेद का स्वाध्याय करना चाहिए ॥ ८ ॥

इदानीं चतुष्पादब्रह्मचर्यं श्लोकचतुष्टयेनाह—

शिष्यवृत्तिक्रमेणैव विद्यामाप्नोति यः शुचिः ।
ब्रह्मचर्यव्रतस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ।। ९ ॥

शा० भा०—शिष्येति । "आचार्ययोनिमिह" इत्यादिना उक्तक्रमेण शुचिर्विद्यामाप्नोति यत्, तत् ब्रह्मचर्यस्यास्य प्रथमः पाद उच्यते ॥ ९ ॥

नील०—शिष्यवृत्तिः सायंप्रातर्भिक्षणेन जीवनं तेनैव क्रमेण नतु गुर्वन्नोपजीवनेत्यर्थः ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—यः = जो शिष्य, शुचिः = निर्मल मन-पूर्वक, शिष्यवृत्तिक्रमेण = उक्त शिष्याचरण के क्रम से, एव = ही, विद्याम् = विद्या को, आप्नोति = ग्रहण करता है, अस्य = उसके, ब्रह्मचर्यव्रतस्य = ब्रह्मचर्य व्रत का, प्रथमः = यह पहला, पादः = चरण, उच्यते = कहा जाता है ॥ ९ ॥

सरलार्थः—जो शिष्य आचार्य के शरणागत होकर उनके वचनों में श्रद्धा रखता हुआ अनन्य भाव से पवित्र होकर विद्या को ग्रहण करता है, अर्थात् वेदाध्ययन करता है वही उसके ब्रह्मचर्य व्रत का प्रथम पाद है ॥ ९ ॥

यथा नित्यं गुरौ वृत्तिर्गुरुपत्न्यां तथाऽऽचरेत् ।
तत्पुत्रे च तथा कुर्वन् द्वितीयः पाद उच्यते ॥ १० ॥

शा० भा०—यथेति स्पष्टोऽर्थः श्लोकः । तथा चोक्तम्—"आचार्यवदाचार्यदारेषु वृत्तिराचार्यपुत्रे च तथा वृत्तिश्च" इति ॥ १० ॥

नील०—ब्रह्मचर्यस्य प्रथमं पादमुक्त्वा द्वितीयं पादमाह–यथेति ॥ १० ॥

शब्दार्थः— यथा = जैसे, गुरौ = गुरुचरणों में, नित्यम् = निरन्तर, श्रद्धा रहे, तथा = उसी प्रकार, गुरुपत्न्याम् = उनकी पत्नी में भी, आचरेत् = रखे, तथा = वैसे ही, तत्पुत्रे=उनके पुत्र के साथ भी, कुर्वन् = भाव रखे, द्वितीयः = दूसरा, चरण = पाद, उच्यते = कहा जाता है ॥ १० ॥

सरलार्थः—शिष्य जिस प्रकार आचार्य की सेवा में निरन्तर श्रद्धा उसी प्रकार उसे गुरु-पत्नी में भी तथा गुरु-पुत्र में भी श्रद्धा रखनी चाहिए, तीनों के प्रति पवित्र भाव से युक्त होना चाहिए, क्योंकि, केवल गुरुशुश्रूषा प्रभावित करने के लिए हो सकती है जिससे परमार्थ सिद्धि में विघ्न आ अतः तीनों के प्रति ऐसी पवित्र भावना से युक्त होना ही द्वितीय पाद है ॥ १

आचार्येणात्मकृतं विजानन् ज्ञात्वा चार्थं भावितोऽस्मीत्यनेन ।
यन्मन्ते तं प्रति हृष्टबुद्धिः स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ ११ ॥

शा० भा०—आचार्येणात्मनः कृतमुपकारं विजानन् ज्ञात्वा चार्थं वेदार्थं पुरुषार्थं ज्ञात्वा अवगम्य भावितोऽस्मीत्यनेन स्वाभाविकचित्सदानन्दा ब्रह्मात्मना यथावदुत्पादितोऽस्मीति चिंतयन् तमाचार्यं प्रति हृष्टबुद्धिः स आत्मनः, 'कृतार्थत्वं मन्यते स वै तृतीयो ब्रह्मचर्यस्य पादः ॥ ११ ॥

नील०—प्राप्तविद्यो विद्यासुखेन हृष्यन् आचार्यं यत् अत्यन्तं मानयति चर्यस्य तृतीयः पाद इत्याह—आचार्येणेति । आत्मकृतं स्वस्मै उपकृतं विद्या तस्य च अर्थं प्रयोजन दुःखनिवृत्तिमानन्दावाप्तिं च ज्ञात्वा ऽनुभूय अनेन भावितो वर्धितोऽस्मीति जानन् यन्मन्यते ॥ ११ ॥

शब्दार्थः— आचार्येणात्मकृतं = आचार्य द्वारा ही, आत्मकृतम् = अपने को, विजानन् = जानता हुआ, अर्थम् = वेदार्थ को, ज्ञात्वा = जान कर, भावि कृतार्थ, अस्मि = हो चुका हूँ, यत् = जो, मन्यते = मानता है, सम्प्रति = प्रति, हृष्टिबुद्धिः = जो कृतार्थ भाव है, ब्रह्मचर्यस्य = ब्रह्मचर्य का, तृतीयः = पादः = चरण है ॥ ११ ॥

सरलार्थः—आचार्य के द्वारा किये गये उपकार को जानता हुआ, अर्थात् द्वारा प्राप्त विद्या से सुख का अनुभव करते हुए जो आचार्य के प्रति सम्मान करता है और वेदार्थ रूप परम पुरुषार्थ को जानकर अपने को कृत-कृत्य है वही ब्रह्मचर्य का तृतीय पाद है ॥ ११ ॥

आचार्याय प्रियं कुर्यात्प्राणैरपि धनैरपि ।
कर्मणा मनसा वाचा चतुर्थः पाद उच्यते ॥ १२ ॥

शा० भा०—आचार्ययेति स्पष्टोऽर्थः ॥ १२ ॥

नील०—आचार्यायेति श्लोकस्य स्पष्टोऽर्थः ॥ १२ ॥

शब्दार्थः—प्राणैः=प्राण से, धनैः = धन से, अपि = भी, तथा=तथा, कर्मणा = कर्म से, मनसा = मन से, वाचा = वाणी से, अपि = भी, आचार्याय = आचार्य के लिए जो प्रियं = प्रिय कार्य, कुर्यात् = करना है वह, चतुर्थः = चौथा, पाद = पाद, उच्यते = कहा जाता है ॥ १२ ॥

सरलार्थः—उस शिष्य को चाहिए कि वह आचार्य गुरु का प्राण, धन, कर्म, मन, वचन आदि सभी से प्रिय (सेवा) करे, यह ब्रह्मचर्य का चौथा पाद कहा गया है ॥ १२ ॥

इदानीं चतुष्पदीं विद्यां दर्शयति —

कालेन पादं लभते तथाऽयं तथैव पादं गुरुयोगतश्च ।
उत्साहयोगेन च पादमृच्छेत् शास्त्रेण पादं च ततोऽभियाति ॥१३॥

शा० भा०—कालेनेति । अत्र क्रमो न विवक्षितः । प्रथमं गुरुयागतः, तत उत्साहयोगेन बुद्धिविशेषप्रादुर्भावेन, ततः कालेन बुद्धिपरिपाकेन, ततः शास्त्रेण सहाध्यायिभिः तत्त्वविचारेण । तथाचोक्तम् 'आचार्यात्पादमादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया ॥ कालेन पादमादत्ते पादं सब्रह्मचारिभिः" इति ॥ १३ ॥

नील० - चतुष्पाद्ब्रह्मचर्येण लभ्यां चतुष्पदीं विद्यामाह —कालेनेति । कालेन बुद्धिपरिपाकेन उत्साहयोगेन बुद्धिवैभवेन शास्त्रेण सहाध्यायिभिर्विचारेण । क्रमस्तु न विवक्षितः । उक्तं च 'आचार्यात्पादमादत्ते पादं शिष्यः स्वमेधया । कालेन पादमादत्ते पादं सब्रह्मचारिभिः" इति ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—अयं = यह शिष्य, कालेन = समय पाने पर, पादम् = प्रथम पाद, लभते = उपलब्ध करता है, च = और, तथैव = इसी प्रकार, गुरुयोगतः = गुरु के संग से, पादम् = दूसरा पाद प्राप्त करता है, च = और, तथा = पुनः, उत्साह-योगेन = उत्साह-योग से भी, पादम् = तीसरे पाद को, ऋच्छेत् = प्राप्त करता है, च=और, ततः = तदुपरान्त, शास्त्रेण = शास्त्रनिदिध्यासन द्वारा, पादम्=चौथे पाद को, अभियाति = पूर्णतया प्राप्त कर लेता है ॥ १३ ॥

सरलार्थः—प्रस्तुत श्लोक द्वारा पूर्वोक्त चार चरण वाले ब्रह्मचर्य के द्वारा प्राप्त होने वाली चतुष्पदी विद्या के विषय में बताते हैं । आचार्य के समीप निवास करता हुआ शिष्य जन्म-जन्मान्तर के सत्संस्कारों के उदित होने पर उसमें ब्रह्म को जानने की इच्छा उत्पन्न होती है । यह ब्रह्मप्राप्ति की प्रथम अवस्था है । तदन्तर बुद्धिविशेष के प्रादुर्भाव मे गुरु की शरण में सत्संग करना रूप दूसरा पाद है । तदनन्तर धर्मप्राप्ति के लिए उत्साहपूर्वक निरन्तर प्रयत्न करना तृतीय पाद है और

अन्त में तत्त्व-विचारपूर्वक दृढ़भाव से शास्त्रों का मंथन करना यह
पाद है ॥ १३ ॥

ज्ञानादीनामाचार्यसंनिधाने फलसिद्धिरित्याह—

ज्ञानादयो द्वादश यस्य रूपमन्यानि चांगानि तथा बलं च।
आचार्ययोगे फलतीति चाहुर्ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्मचर्यम् ॥ १॥

शा० भा०—ज्ञानेति। ज्ञानादयो 'ज्ञानं च" इत्यादिना पूर्वोक्ता
गुणाः यस्य पुरुषस्य रूपम्, अन्यानि चांगानि "श्रेयांस्तु षड्विधस्त्यागः"
ध्यानम्' इति श्लोकद्वयेन चोक्तानि। तथा बलं च तद्धर्मपरिपालनसामर्थ्यं,
माचार्ययोगे एवं फलति, नाचार्ययोगं विना फलति। श्रूयते च "आचार्याद्धैव
विदिता" इति। "आचार्यवान्पुरुषो वेद" इति च। ब्रह्मार्थयोगेन च ब्रह्म
यदिदं गुरुसन्निधौ शुश्रूषाद्याचरणं तत् ब्रह्मचर्यं ब्रह्मार्थयोगेन फलति, स्वा
चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मैकत्वसंपादनद्वारेण फलतीत्यर्थः ॥ १४ ॥

नील०—ज्ञानादय इति। यस्य ब्रह्मचर्यस्य रूपं स्वरूपभूता इत्यर्थः। अ
चांगानि आसनप्राणजयादीनि। बलं योगे नित्योद्युक्तता। ब्रह्मार्थो वेदार्थः।
ब्रह्मणी तयोर्योगेन अधिगमने ब्रह्मचर्यं फलतीत्यर्थः ॥ १४ ॥ १५ ॥ १६ ॥

शब्दार्थः—यस्य = जिस साधक का, ज्ञानादयः = उक्त ज्ञानादि, द्वाद
बारह गुण, अन्यानि = अन्य साधन, अंगानि = अंग, बलम् = बल, पुरुषार्थ
आचार्ययोगे=आचार्य के सान्निध्य में ही, फलति = फलित होते हैं, आहुः=
हैं, ब्रह्मार्थयोगेन–ब्रह्म में ही स्थित होने से ही ॥ १४ ॥

सरलार्थः—ज्ञान, सत्य, दम आदि पूर्वोक्त बारह गुण जिसके स्वरूप हैं
अन्य जो भी धर्म के अङ्ग एवं सामर्थ्य हैं, उन्हें भी जो अपना स्वरूप ही
है अर्थात् शरीर के समान ही उन गुणों के साथ अनुराग कर लेता है अथवा
धर्मादि बारह व्रत एव सत्य, ध्यान आदि आठ गुणों को अपना अंगस्वरूप मा
उन्हें सबल बनाता है, वह आचार्य के सान्निध्य में रह कर ही संसार-सागर से
जाता है। श्रुति कहती है, आचार्यदेवः विद्यां विदित्वा साधिष्ठ प्रापत।"।
आचार्यवान पुरुष ही ब्रह्मज्ञानी होता है, अर्थात् वह आचार्य के गुणों को आ
ग्रहण करता हुआ ब्रह्म में स्थित होकर अनन्त सुख का अनुभव करता है।
उसके ब्रह्मचर्य की सिद्धि है ॥ १४ ॥

ब्रह्मचर्यस्तुतिं करोति द्वाभ्याम्—

एतेन ब्रह्मचर्येण देवा देवत्वमाप्नुवन्।
ऋषयश्च महाभागा ब्रह्मचर्येण चाभवन् ॥ १५ ॥

एतेनैव सगन्धर्वा रूपमप्सरसो जयन् ।
एतेन ब्रह्मचर्येण सूर्यं अह्नाय जायते ॥ १६ ॥

शा० भा०—एतेनेतिपादसप्तकस्य स्पष्टोऽर्थः। अह्नो दीप्तिसमूहः अह्नाय जगतां द्योतनाय सूर्यश्च जायते । उक्तंच–"अह्नो दीप्तिश्च कथ्यते" इति॥१५॥१६॥

शब्दार्थः—देवा = देवतागण, एतेन = इस, ब्रह्मचर्य से, देवत्वम् = देवपद को, आप्नुवन् = प्राप्त किये हैं, च = और, महाभागा=भाग्यशाली, ऋषयः=महर्षिगण, ब्रह्मचर्येण=ब्रह्मचर्य से च = ही, अभवन् = इस प्रकार पूजित हुए हैं ॥ १५ ॥

सरलार्थः—इस ब्रह्मचर्य के पालन से ही देवताओं ने देवत्व प्राप्त किया और महान सौभाग्यशाली मनिषी ऋषियों ने ब्रह्मलोक को प्राप्त किया। स्मृति कहती है—"ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत" ॥१५॥

शब्दार्थः—एतेन=इस ब्रह्मचर्य से, एव = ही, सगन्धर्वा=गंधर्वों सहित, अप्सरसः = अप्सराएं, रूपम् = सुन्दर रूप पर, अजयन्=अधिकार किये हैं और, एतेन= इस, ब्रह्मचर्येण=ब्रह्मचर्य से ही सूर्यः=सूर्यदेव, अह्नाय=प्रकाशन के योग्य, जायते = प्रकट हुए हैं ॥ १६ ॥

सरलार्थः—इसी ब्रह्मचर्य के प्रभाव से ही गन्धर्वों और अप्सराओं को दिव्य-अलौकिक रूप की प्राप्ति हुई और उसी के प्रभाव से सूर्य देवता भी समर्थ हो जाते हैं ॥ १६ ॥

कथमेकस्य ब्रह्मचर्यस्यानेकफलसाधनत्वमित्याह—

आकांक्षार्थस्य संयोगाद्रसभेदार्थिनामिव ।
एवं ह्येतत्समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ॥ १७ ॥

शा० भा०—आकांक्षेति । यथा चिन्तामण्यादयो रसभेदार्थिनाम् आकांक्षार्थस्य संयोगात्तत्तदाकांक्षितमर्थं प्रयच्छन्ति एवमेवैतत् ब्रह्मचर्यमाकांक्षार्थस्य संयोगात् तत्तदाकांक्षितमर्थं प्रयच्छतीति ज्ञात्वा तत्तत्फलार्थं ब्रह्मचर्यं चरित्वा तादृग्भावं गता इमे देवादयः। यस्मादाचार्यसन्निध्यनुष्ठितात् ब्रह्मचर्यात्परमपुरुषार्थप्राप्तिस्तस्मादाचार्ययोनिं प्रविश्य गर्भो भूत्वा ब्रह्मचर्यं चरेदित्यर्थः ॥१७॥

नील०—आकांक्षेति । रसभेदः पारदगुटिकाविशेषश्चिंतामणिसंज्ञः तं चिंतितवस्तुप्रदं अर्थयन्ते तेषां रसभेदार्थिनां यथा आकांक्ष्यस्य लिप्सितस्यार्थस्य संयोगः प्राप्तिस्ततो यादृक्भावो भवति एवमेव एते देवादयः समाज्ञाय ब्रह्मचर्यमुपेत्य तादृग्भावं सत्यसंकल्पत्वाच्चिंतितवस्तुप्रदत्वं गताः ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—रसभेदार्थिनाम्=विभिन्न रसों की याचना करनेवाले को, आकांक्षार्थस्य=इच्छित वस्तु की, संयोगात्=प्राप्ति होने के, इव=समान, हि=ही, एतत्=इस

व्रत का, समाज्ञाय=पालन करके, एवं=इस तरह, इमे=ये, देवादि भी ताहग्भाव उसी पद को, गताः = प्राप्त हुए हैं ।। १७ ।।

सरलार्थः—ब्रह्मचर्य ही जीवन की सबसे उत्तम वस्तु है । जैसे विभिन्न रसों याचना करनेवालों को उसकी अभिष्ट वस्तु की प्राप्ति होती है । वैसे ही ब्रह्मचर्य पालन करनेवाले को भी इच्छित फल की प्राप्ति होती है । इस प्रकार की भाव से युक्त होकर ही देवता और मुनियों ने वैसे ही भाव को प्राप्त किया । तात्पर्य है जिस-जिस भावना से ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है वह उसी प्रकार फलद होता है ।। १७ ।।

नन्वेवं ज्ञाननिष्ठता यदि ज्ञानस्यैव पुरुषार्थतंत्रं भवेत्; अपितु कर्मण एवेत शंक्याह—

अन्तवन्तः क्षत्रिय ते जयन्ति नानन्तं स्वात्मभूतं जयन्ति ।
ज्ञानेन विद्वांस्तेज अभ्येति नित्यं न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः ।।१८

शा० भा०—अन्तवन्त इति । हे क्षत्रिय, ते अन्तवन्तः अन्तवतो लोका पितृलोकदेवलोकादीन् जयन्ति प्राप्नुवन्ति, नानन्तं स्वात्मभूतं परमात्मभूतं लो जयन्ति । केन तह्यनन्तलोकप्राप्तिरित्याशंक्याह । ज्ञानेन विद्वान् तेज अभ्ये नित्यमिति । नित्यमविनाश्यात्मभूतमेवाभ्येति तेजो ज्योतिर्न कर्मणा । कस्मा त्पुनर्ज्ञानेनैवाभ्येति ? न विद्यते ह्यन्यथा तस्य पन्थाः । तस्य पूर्णानन्दज्योति ज्ञानमेकं मुक्त्वाऽन्यपन्था मार्गो नास्त्येव । श्रूयते—"तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमे नान्यः पन्था विद्यते अयनाय" इति ।। १८ ।।

नील०—अन्तेति । ते अविद्वांसः अन्तवतः अनित्यॉंल्लोकान्कर्मणा जयन्ति विद्वांस्तु ज्ञानेन सार्वात्म्यात् सर्वं तेन ज्ञातेन ब्रह्मणा अभ्येति अतस्तस्य कर्मप्राप्य किंचित्फलं नावतिष्ठते इत्यर्थः । अतः ज्ञानादन्यः पंथाः अयनाय मोक्षाय न विद्यते ज्ञानादेव तु कैवल्यमित्यवधारणात ।। १८ ।।

शब्दार्थ क्षत्रिय=हे राजन् ! ते = वे कर्मी लोग, अन्तवन्तः=नश्वर लोकों को जयन्ति=प्राप्त करते हैं, न=न कि अनन्तम्=अविनाशी, स्वात्मभूतम्=आत्म पद को जयन्ति=प्राप्त करते हैं और किन्तु, विद्वान्=ज्ञानी, ज्ञानेन=ज्ञान द्वारा ही, नित्यम् अविनाशी, तेजः=प्रकाश को, अभ्येति-प्राप्त करता है । हि-क्योंकि, अन्यथा इसके विपरीत, पन्थाः=मार्ग, न विद्यते=नहीं है ।। १८ ।।

सरलार्थः—हे राजन्, जो लोग यज्ञादि कर्मों को सकाम भाव से करते हैं, स्वर्ग आदि अनित्य लोकों को ही प्राप्त करते हैं, किन्तु जो ब्रह्मको जाननेवाले विद्वान् है, वह अपने ज्ञान से ज्योतिर्मय परमात्मा को प्राप्त कर लेता है अर्थात्

आत्म-साक्षात्कार कर लेता है। वह 'अहं ब्रह्मास्मि' की भावना से मुक्त हो जाता है और उस अविनाशी पदसे कभी भी च्युत नहीं होता। श्रुति भी कहती है—'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय'' ॥ १८ ॥

ज्ञानेन विद्वान् यद् पश्यति ब्रह्म, तत्किमिवाभातीति पृच्छति धृतराष्ट्रः—

धृतराष्ट्र उवाच—

आभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमथाञ्जनं काद्रवं वा।
यद्ब्राह्मणः पश्यति यत्र विद्वान् कथंरूपं तदमृतमक्षरं परम् ॥१६॥

शा० भा०—आभातीति। ब्राह्मणः अक्षरं परं ब्रह्म पश्यति तत्कथंरूपं कीदृक्रूपमिति रूपप्रश्नः यत्र पश्यति तदिति अधिकरणप्रश्नश्च ॥ १९ ॥

नील० —'नान्यः पन्था अयनाय विद्यते' इति श्रुत्वा 'तूष्णींभूत उपासति न चेष्टेन्मनसापि च। उपावर्तस्व तद् ब्रह्म अन्तरात्मनि विश्रुतम्'' इति प्रागुक्तप्रकारेण आत्मानमनुसंदधानस्तमनवाप्य नानावर्णान्नाडीमार्गात् अन्तर्हृदये पश्यन् पृच्छति आभातीति। तत् ब्रह्मणो रूपं यो विद्वानत्र हृदये पश्यति स शुक्लादिरूपमिव अनवस्थितरूपं ब्रह्म पश्यति अतः कथंरूपं कीदृक्रूपं तदक्षरं व्यापकं अमृतमविनाशि परं तद् ब्रूहीति शेषः। काद्रवं कुत्सितः परपीडकः द्रवो गतिर्यस्य स काद्रवो धूमः तद्वर्णं काद्रवं कद्रुपिंगल तद्वर्णं श्रूयन्ते च ब्रह्ममार्गे रूपाणि 'तस्मिन् शुक्लमुत नीलमाहुः पिंगलं हरितं लोहित च एप पंथा ब्रह्मणा ह्यनुवित्तस्तेनैति ब्रह्मवित्पुण्यकृत्तैजसश्च'' इति ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—विद्वान् ब्राह्मणः=ब्रह्मनिष्ठ ज्ञानी, यत्र=जिस बुद्धि गुहा में, अमृतम्=शाश्वत, अक्षरम्=अविनाशी, परम्-परम् तत्व को, पश्यति=देखते हैं। तत्=वह शुक्लम्=शुभ्र, लोहितं=लाल, कृष्णम्=काला, काद्रवम् = धूम्रवर्ण, वा=अथवा, कथम्=कैसा, रूपम्-रूप, आभाति-प्रतीत होता है ॥१९॥

सरलार्थः धृतराष्ट्र बोले-भगवन्, ब्रह्मज्ञानी विद्वान् पुरुष अपने ज्ञान के प्रभाव से सत्य स्वरूप परमात्मा के जिस अमृत एवं अविनाशी परम पद को प्राप्त कर लेता है उसका रूप कैसा है? क्या वह सफेद वर्ण का, लाल अञ्जन की तरह काला या सुवर्ण जैसे पीले रंग का है? ॥ १९ ॥

एवं पृष्टः प्राह भगवान्—

सनत्सुजात उवाच—

नाभाति शुक्लमिव लोहितमिवाथो कृष्णमथाञ्जनं काद्रवं वा।
न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे नैतत्समुद्रे सलिलं बिभर्ति ॥ २० ॥

शा० भा०—नेति। नैतद्ब्रह्म शुक्लादिरूपत्वेनावभासते, अरूपत्वाद् ब्रह्मणः। श्रूयते च—"ततो यदुत्तरतरं तदरूपमनामयम्" इति। "अशब्दमस्पर्शमरूप-मव्ययम्" इति च : तथा न पृथिव्यां तिष्ठति नान्तरिक्षे। तथाच श्रुतिः अन्यत्रा-नवस्थानं दर्शयति—"स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठितः इति स्वे महिम्नीति। कस्मा-त्पुनः कारणात् पृथिव्यादिषु न तिष्ठति ? तत्राह—नैतत्समुद्रे सलिलं पंचभूता-त्मकं देहं बिभर्त्ति। सलिलशब्दो भूतपंचकोपलक्षणार्थः। यथा "आप ए-ससर्जादौ तासु बीजमवासृजत्" इत्यत्रापि अप्शब्दो भूतपंचकोपलक्षणार्थः। श्रूयते च पंचाग्निविद्यायां "पंचम्यामाहुतावापः पुरुषवचसो भवन्ति" इति अपा-मेव पुरुषशब्दवाच्यत्वम्। एतदुक्तं भवति यदि ब्रह्मणः संसारान्तर्वर्त्तित्वं भवेत् तदा संसारानुप्रविष्टत्वात् घटादिवदीदृग्रूपादिमत्त्वमन्यस्मिंश्चावस्थानं भवेत्। इदं तु पुनरपूर्वादिलक्षणत्वात्संसाराननुप्रविष्टमेव ब्रह्म, तस्माद्रूपादि-रहितमिति ॥ २० ॥

नील० उत्तरमाह—नाभातीति। ब्रह्ममार्गे यद्यपि शुक्लादिरूपाणि भान्ति तथापि यत् ब्रह्मणो रूपं तत् पृथिव्यादिषु नास्ति। 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथाऽरसं नित्यमगंधवच्च यत्' इति तत्र शब्दादीनां निषेधात् तेषां च शब्दादि-मत्वात् रूपांतराणि तु ब्रह्मप्राप्तिचिह्नानि न तु ब्रह्मरूपाणि। तथाच श्रुतिः—नीहार-धूमार्कानिलाऽनलानां खद्योतविद्युत्स्फटिकशशीनाम् ॥ एतानि रूपाणि पुरःसराणि ब्रह्मण्यभिव्यक्तिकराणि योगे' इति समुद्रे संसारसागरे एवं परमात्मानं सलिल सलि-लोपलक्षितः पंचभूतात्मको देहः न बिभर्ति जीवानामिव ब्रह्मण उपाधिजं दुःखं नास्तीत्यर्थः। यद्वा सामुद्रे जले एतद्रूपं नास्तीत्यर्थः ॥ २० ॥

शब्दार्थः—शुक्लम्=श्वेत या शुभ्र रंग के, इव=सदृश, लोहितम्=लाल के इव=तुल्य, अथ=अथवा, कृष्णम्=काले के तुल्य, अथ=और, अर्जुनम्=श्वेत तुल्य, वा=अथवा काद्रवं=धूम्र-पीत वर्ण के तुल्य भी, न=नहीं, आभाति = आभासित होता, न=न तो, पृथिव्याम् = पृथ्वी में, न = नहीं, अन्तरिक्षे = आकाश में ही वह तिष्ठति=स्थिर है, न=न तो, एतत्=इसको, समुद्रे=समुद्र में, सलिलम्=जल उसे बिभर्ति=धारण करता है ॥ २० ॥

सरलार्थः—भगवान सनत्सुजात ने कहा—हे नराधिप, वह आत्म-प्रकाश न तो श्वेत वर्ण में ही भासता है, न लाल रंग में, न काले रंग में और न तो धूम्रवर्ण में ही प्रतीत होता है। ब्रह्म के स्वरूप का आधार न तो पृथ्वी ही है और न वह अन्त-रिक्ष में ही भासता है तथा न तो समुद्र का जल ही उसे धारण करता है ॥ २० ॥

तर्हि न कस्य कुत्राप्युपलभ्यते इत्याह—

न तारकासु न च विद्युदाश्रितं न चाभ्रेषु दृश्यते रूपमस्य ।
न चापि वायौ न च देवतासु नैतच्चन्द्रे दृश्यते नोत सूर्ये ॥२१॥
नैवर्क्षु नैतद्यजुःषु नाप्यथर्वसु न दृश्यते वै विमलेषु सामसु ।
रथन्तरे बृहद्रथे वापि राजन् महाव्रतस्यात्मनि दृश्यते तत् ॥२२॥

शा० भा०—'ज्ञानं च सत्यं च" इत्युपक्रम्य "महाव्रता द्वादश ब्राह्मणस्य" इति ये गुणाः उक्तास्तत्संयुक्तस्यात्मनि दृश्यते तत्परं ब्रह्म न घटादिवदियत्तया सिध्यति अपित्वात्मन्येवात्मतया सिध्यतीत्यर्थः ॥ २१ ॥ २२ ॥

नील०—न तारकास्विति रूपादिराहित्यस्यैव प्रपंचः ॥ २१ ॥

नील०—नामरूपात्मके प्रपचे सति तद्राहित्यत्वं ब्रह्मणो वक्तुं रूप-प्रपँचादन्यत्वमुक्त्वा नामप्रपंचादप्यन्यत्वमाह- नैवर्क्षु इत्यादिना। तदित्यनेन अर्थात् ब्रह्मणो नाम निर्दिश्यते। विमलेषु वैश्वानरसामादिषु रथंतरबृहद्रथे च पृष्ठत्रसामनी। एतत् न दृश्यते ॥ २२ ॥

शब्दार्थ न=न ही, तारकासु=तारागणों में, च=और, न=न ही, विद्युताश्रितम्=बिजली के आश्रित, च=और न=न ही, अभ्रेषु=बादलों में ही, अस्य=इसका, रूपम=रूप, दृश्यते=दिखायी देता है, च=और, अपि=भी, न=नहीं, वायौ=वायु में, च=और, न=न ही, देवतासु=देवताओं में, न=न ही, एतत्=इस, चन्द्रे=चन्द्र में, उत=अथवा, न=न, सूर्यं=सूर्य में ही, दृश्यते=दिखाई देता है ॥ २१ ॥

सरलार्थ हे राजन्, ब्रह्म का वह रूप अर्थात् आत्म-तेज न तो तारागणों में ही है, न विद्युत मे ही आश्रित है, न मेघों में ही दिखाई पड़ता है, न वायु में उसकी स्थिति है, और न देवताओं में ही उसका निवास है, वह आत्म-तेज न तो चन्द्र के प्रकाश में ही दिखाई देता है और नहीं सूर्य में ॥ २१ ॥

शब्दार्थः राजन्=हे राजन्! न=न ही, एव=तो, ऋक्षु=ऋक्में, न=न ही, तत्=वह, यजुःषु=यजुर्वेद में, अपि=और, न=न, अथर्वसु=अथर्व में, वै=उसी प्रकार, न=न तो, विमलेषु=विमल, सामसु=सामवेद में, वा=अथवा, रथंतरे=रथंतर और, बृहद्रथे= ब्रहद्रथ सामगान में, अपि=भी, दृश्यते=दिखायी देता है। तत्=किन्तु वह, महाव्रतस्य=महाव्रती पुरुषों के, आत्मनि=आत्मा में उनको, दृश्यते=आभासित होता है ॥ २२ ॥

सरलार्थः—हे राजन्, ऋग्वेद की ऋचाओं में, यजुर्वेद के मन्त्रों में, अथर्ववेद के सूक्तों में तथा निर्मल सामवेद में भी वह आत्मप्रकाश दृष्टिगोचर नहीं होता और

न तो वह रथन्तर और बार्हद्रथ नामक सामगानों में ही दिखाई पड़ता है। परन्तु वह उस नित्य सत्ता का दर्शन महाव्रती पुरुषों को आत्मा में ही हो जाता है ॥२२॥

इदानीं तत्स्वरूपं तद्दर्शनं तत्फलं च श्लोकद्वयेन निर्दिशति—

अवारणीयं तमसः परस्तात् तदन्ततोऽभ्येति विनाशकाले ।
अणीयरूपं च तथाऽप्यणीयसां महत्स्वरूपं त्वपि पर्वतेभ्यः ॥२३॥
तदेतदह्ना संस्थितं भाति सर्वं तदात्मवित्पश्यति ज्ञानयोगात् ।
तस्मिन् जगत्सर्वमिदं प्रतिष्ठितं य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥२४॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयया-
सिक्यामुद्योगपर्वणि धृतराष्ट्रसनत्कुमारसंवादे
श्रीसनत्सुजातीये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

शा० भा०—अवारणीयमिति । यदिदं महाव्रतस्यात्मनि दृश्यते तदवारणीयं ब्रह्म सर्वगतत्वात् । तमसोऽज्ञानात् परस्तात् तद् ब्रह्म अन्ततोऽभ्येति प्रविशति विनाशकाले प्रलयकाले, जगदिति शेषः । तथा अणीयसामपि अणीयरूपं पर्वतेभ्योऽपि महत्स्वरूपम् । श्रूयते च "अणोरणीयान्महतो महीयान्" इति ।

दृश्यन्ते च ये अणुत्वमहत्वादयो लोके तदेतत्सर्वं जगत् अह्नारूपेण प्रकाशरूपेण ब्रह्मणि संस्थितं तदात्मत्वेनैवावभाति श्रूयते च—

"तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति च । तत् ब्रह्म आत्मवित्पश्यति ज्ञानयोगात् न कर्मयोगेन, तस्मिन्नेव परमात्मनि जगत्सर्वं प्रतिष्ठितं ये एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥ २३ ॥ २४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्य श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीशंकरभगवतः कृतौ सनत्सुजातभाष्ये तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

नील०—अवारणीयं अनतिक्रमणीयं अहेयत्वात् तमसः अज्ञानरूपादुपाधेः परस्तात् पराचीनं तत् ब्रह्म अभ्येति गच्छति प्रलयान्ते, कालोपि तत्र लीयत इत्यर्थः । अणीय इति दुर्लक्ष्यम् । अत्यन्तावहितेन ग्राह्यं, महच्च पर्वतेभ्य इति उपलक्षणं सर्वस्य सर्वस्मादपि महदित्यर्थः ॥ २३ ॥

नील०—तदेतदिति । तस्मिन्निदं जगत् प्रतिष्ठितं रज्ज्वामुरगवल्लीनं ये विदुस्ते अमृताः मुक्ता भवन्ति ॥ २४ ॥

इति उद्योगपर्वणि नैलकण्ठीये भारतभावदीपे सनत्सुजातीये
टीकायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—तमस=अज्ञानान्धकार से, परस्तात्=अतीत होने के कारण, अवारणीयम्=इसका अतिक्रमण नहीं किया जा सकता, अपि=वरञ्च, अन्ततः=जगत् का अन्त होने पर, विनाशकाले=विनाश काल में, तत्=वह काल भी, अभ्येति=उसी में लीन हो जाता है, च=और, तथा=उसी तरह, अणीयसाम्=सूक्ष्मों का, अणीयरूपम्=सूक्ष्म रूप, अपितु=और पर्वतेभ्य=पर्वतों से भी, महत् स्वरूपम्=विशाल है ॥ २३ ॥

सरलार्थः—वह परब्रह्म अज्ञानरूप अन्धकार से सर्वथा अतीत है। वह सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप एवं अनन्त है। वह देश, काल एवं वस्तु की सीमा से अपरिच्छेद्य है। वह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतम है और पर्वतों से भी विशाल है। तात्पर्य है कि वह नित्य होकर समस्त विश्व में सूक्ष्म रूप से अभिव्याप्त है और असीम है श्रुति कहती है—'अणोरणीयान् महतो महीयान्....' इत्यादि ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—एतत्=यह, सर्वम्=सारा दृश्य-वर्ग, तत्=उस, अह्ना=प्रकाश से ही, संस्थितम्=स्थिर होकर, भाति=भासित हो रहा है, आत्मवित्=आत्मज्ञानी, ज्ञानयोगात्=ज्ञान योग से, तत्=उसको, पश्यति=देखता है तथा, इदम्=यह, सर्वम्=सब, जगत्=संसार, तस्मिन्=उसी में, प्रतिष्ठितम्=प्रतिष्ठित है, ये=जो लोग, एतत्=इसे इस रूप में, विदुः=जानते हैं, ते=वे, अमृताः=अमर, भवन्ति=हो जाते हैं ॥ २४ ॥

सरलार्थः- यह सम्पूर्ण चराचर विश्व उसी ब्रह्म के महान् प्रकाश से प्रकाशित हो रहा है। आत्मज्ञानी विद्वान् अपने ज्ञान द्वारा स्वयं अपनी आत्मा में ही उसका साक्षात्कार कर लेता है। श्रुति कहती है—"तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति"। वही इस सम्पूर्ण जगत् का आधारस्वरूप है, वही ध्रुव नित्य और सर्वव्यापक है। जो लोग ब्रह्म के स्वरूप को इसी रूपमें जान लेते हैं, वे अमृतत्त्व को प्राप्त कर लेते हैं ॥ २३ ॥

इति सनत्सुजातीयदर्शने 'प्रज्ञा' हिन्दीव्याख्यायां तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अथ चतुर्थोऽध्यायः

"आवरणीयं तमसः परस्तात्" इत्यादिना ब्रह्मणो रूपं निर्द्धार्य्यं "तदात्मवित्पश्यति ज्ञानयोगात्" इति ज्ञानयोगेनात्मदर्शनमुक्तम्। पुनरपि तस्य स्वरूपं दर्शयित्वा योगिनस्तद्रूपं पश्यन्तीत्याह—

सनत्सुजात उवाच।

यत्तच्छुक्रं महज्ज्योतिर्दीप्यमानं महद्यशः॥
यद्वै देवा उपासते यस्मादर्को विराजते॥
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवन्तं सनातनम्॥ १॥

शा० भा०—यत्तदिति। यद् ब्रह्मवित्पश्यति ज्ञानयोगात्, यज्ज्ञात्वा अमृता भवन्ति तच्छुक्रं शुद्धमविद्यादिदोषरहितं महज्ज्योतिः सर्वाविभासकत्वात्। श्रूयते च 'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" इति। दीप्यमानं भ्राजमानं महद्यशः। श्रूयते च "तस्य नाम महद्यशः"। यद्वै ब्रह्म देवा इन्द्रादयः उपासते। श्रूयते च "तद्देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्होपासतेऽमृतम्" इति। यस्मात्परज्योतिषो ब्रह्मणः अर्कादिर्ज्योतिर्विराजते "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" इति श्रुतेः। एवंभूतं परमात्मानं सनातनं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति, न पुनर्ज्ञानयोगरहिताः॥ १॥

नील०—पूर्वाध्यान्ते ब्रह्मणो रूपं निर्दिश्य शून्यवदेव निर्धर्मकं शून्यभावस्यापि प्रकाशकं सद्रूपं ब्रह्म प्रत्यगभिन्नत्वेन ज्ञेयमस्तीत्यस्मिन्नर्थे मंत्रानुदाहरति। योगिप्रत्यक्षं च पुनः पुनः प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति। यत्तच्छुक्लमित्यादिनाऽध्यायेन। यत्तच्छुक्लं बीजमिव बीजं विश्वोत्पत्त्यादिमूलकारणं सर्वचेष्टाप्रवर्तकं आनन्दरूपं महत् वृत्तिरूपोपाधिशून्यं ज्योतिर्ज्ञप्तिमात्रं दीप्यमानं अर्कादिरूपेण महद्यशोनामकं यत् देवा इंद्रियाणि उपासन्ते अनुसरन्ति तस्मादेव मूलकारणात्सूर्यो जगत्प्रसवधर्मा मायोपाधिरीश्वरो विराजते। तथाच श्रुतयः 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयंत्यभिसंविशन्तीति। कोह्येवान्यात्कः प्राण्यात् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः। न तस्येशे कश्चन तस्य नाम महद्यशः। न प्राणेन नापानेन मर्त्यो जीवति कश्चन। इतरेण तु जीवन्ति यस्मिन्नेतावुपाश्रितौ। प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुः" इत्यादयः। तं परमात्मानं योगिनः चित्तवृत्तिनिरोधेन भगवन्तं सर्वैश्वर्यवन्तं। संप्रज्ञाते, असंप्रज्ञाते तु सनातनं

अखण्डैकरसं पश्यन्तीति सर्वत्र ज्ञेयम् । योगेनैव तं परमात्मानं पश्येन्नान्यथा । यथाह दक्षः

स्वसंवेद्यं हि तद् ब्रह्म कुमारी स्त्रीसुखं यथा ।
अयोगी नैव जानाति जात्यंधो हि यथा घटम् ॥ इति ॥ १ ॥

शब्दार्थः यत्=जो, तत्=वह, शुक्रम्=शुद्ध, महज्ज्योति=महान् ज्योति है, दीप्यमानम्=देदीप्यमान, महद्यश=महान्, यश है, वे=और, देव=देवगण, यत्=जिसकी, उपासते=उपासना करते हैं, यस्मात्=जिससे, अर्कः=सूर्य, विराजते=विराजमान है, तम्=उस, सनातनम्=सनातन, भगवन्तम्=भगवान् का, योगिनः=योगी लोग, प्रपश्यन्ति=दर्शन करते हैं ॥ १ ॥

सरलार्थः – श्रीसनत्सुजात ने कहा · जो विशुद्ध ब्रह्म है वह महान् ज्योतिर्मय, देदीप्यमान एवं विशाल यशरूप है । समस्त देवगण उसी की उपासना में निरत रहते हैं । उसी के प्रकाश से सूर्य प्रकाशित होता है "येन सूर्यस्तपति तेजसेद्धः" (श्रुति) । योगीजन उसी सनातन एवं ऐश्वर्य सम्पन्न परमात्मा का साक्षात्कार करते हैं अर्थात् उस विशुद्ध ब्रह्म को निरन्तर अपनी आत्मा में ही देखते हैं ॥ १ ॥

एदानीं परस्मादेव ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाद्युत्पत्तिं दर्शयति—

शुक्राद् ब्रह्म प्रभवति ब्रह्म शुक्रेण वर्द्धते ॥
तच्छुक्रं ज्योतिषां मध्येऽतप्तं तपति तापनम् ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २ ॥

शा० भा०—शुक्रादिति । शुक्रात् शुद्धात् पूर्वोक्तात् ब्रह्मणो हिरण्यगर्भाख्यं ब्रह्म प्रभवति उत्पद्यते । अथोत्पन्नं ब्रह्म शुक्रेण वर्धते विराडात्मना । तत् शुक्रं शुद्धं ब्रह्म ज्योतिषामादित्यानां मध्ये तैरतप्तमप्रकाशितं सत् तपति स्वयमेव प्रकाशते, तेषामपि तापनं प्रकाशकम् । योऽन्यानवभास्यः सर्वावभासकः स्वयमेव भासते तं भगवन्तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ २ ॥

नील०—अस्यैव मन्त्रस्य विवरणार्था उत्तरे मन्त्राः । शुक्लात् आनन्दात् तं प्राप्येत्यर्थः । ब्रह्म जगतो बृंहकं परमव्योमाख्यं अव्याकृतं वाऽवस्तु सदपि चैतन्यप्रतिबिम्बं प्राप्य प्रभवति जगज्जन्मादिकार्ये समर्थं भवति । तेनैव च वर्द्धते अतस्तच्छुक्लं ज्योतिषां सूर्यादीनां मध्येऽतः स्थित्वा तपति प्रकाशते । तथाच गीतासु 'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम् । यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम् इति । अतप्तं अन्येनाप्रकाशितं स्वयंज्योतिरित्यर्थः । तापनं सूर्यादीनामपि भयप्रदं, "भीषाऽस्माद्वातः पवते भीषोदेति सूर्यः । भीषाऽस्मादग्निश्चन्द्रश्च मृत्युर्धावति पंचमः" इति श्रुतेः ॥ २ ॥

शब्दार्थः—शुक्रात् = शुद्ध ब्रह्म से, ब्रह्मा=हिरण्यगर्भ, प्रभवति = उत्पन्न हुआ, ब्रह्म=वह हिरण्यगर्भ, शुक्रेण=शुद्ध ब्रह्म के तेज से, वर्द्धते=बढ़कर विराट् रूप हो गय, तच्छुक्रम्=वह शुद्ध ब्रह्म ज्योतिषाम् = समस्त ज्योतियों के, मध्ये = भीतर स्थित होकर, अतप्तम् = स्वयं न तपता हुआ, तापनम् = तपानेवाले को, तपति = उद्दीप्त करता है, तं = उस, सनातनम् = सनातन, भगवन्तम् = भगवान् को, योगिनः=योगीजन, प्रपश्यन्ति=देख सकते हैं ॥ २ ॥

सरलार्थः—उस सच्चिदानन्द रूप परब्रह्म से हिरण्यगर्भ (मायाविशिष्ट ब्रह्म) की उत्पत्ति होती है। तथा उसी विशुद्ध (मायोपाधि विरहित) ब्रह्म से ही यह वृद्धि को भी प्राप्त होता है। श्रुति भी कहती है, "यस्मात् शरीरी प्रथमः" वह शुद्ध ज्योतिर्मय ब्रह्म ही सूर्यादि सम्पूर्ण ज्योतियों के भीतर स्थित होकर सबको प्रकाशित करता है, स्वय न तपते हुए सभी को तपाता है अर्थात् अन्य जीवों को तपाने वाले सूर्य, अग्नि आदि को भी वही तपाता है। योगी लोग उसी स्वयं प्रकाश एवं सनातन ब्रह्म का अपनी आत्मा में दर्शन करते हैं ॥ २ ॥

इदानीं पूर्णवाक्यार्थं कथयति—

पूर्णात्पूर्णमुद्धरन्ति पूर्णात्पूर्णं प्रचक्षते
हरन्ति पूर्णात्पूर्णं च पूर्णनैवावशिष्यते ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ३ ॥
यथाकाशेऽवकाशोऽस्ति गंगायां वीचयो यथा ॥
तद्वच्चराचरं सर्वं ब्रह्मण्युत्पद्य लीयते ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ४ ॥

शा० भा०—पूर्णादिति। पूर्णाद्देशतः कालतो वस्तुतश्च अपरिच्छिन्नात् परमात्मनः पूर्वमेवोद्धरन्ति जीवरूपेण। यत्पूर्णात्पूर्णमुद्धृतं जीवात्मना अतः पूर्णादेव समुद्धृतत्वात् इदमपि जीवस्वरूपं पूर्णमेव प्रचक्षते विद्वांसः। तथा हरन्ति पूर्णात् जीवात्मनाऽवस्थितात् पूर्णमात्मस्वरूपमात्रं देहेन्द्रियाद्यनुप्रविष्टं देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं सर्वान्तरं देहद्वयादुद्धरन्तीत्यर्थः। तत उद्धृतेनैव मूलभूतेन पूर्णानंदेनावशिष्यते तेनैव पूर्णानंदेन ब्रह्मणा संयुज्यते। चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनाऽवशिष्यत इत्यर्थः। पूर्णमेवावशिष्यत इति वा पाठः। यदा देहेन्द्रियादिभ्यो निष्कृष्य तत्साक्षिणं सर्वान्तरं देहद्वयादुद्धरन्ति, तदा पूर्णमेवावशिष्यत इत्यर्थः। तथा च श्रुतिः:—पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात्पूर्णमुदच्यते ॥ पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते"। अस्यायमर्थः—पूर्णमदस्तच्छब्दवाच्यं जगत्का-

रणं ब्रह्म । पूर्णमिदं त्वंशब्दनिर्दिष्टं प्रत्यगात्मस्वरूपम् । कथमनयोस्तत्त्वंपदार्थयोः
पूर्णत्वमिति चेत्, तत्राह—पूर्णादनवच्छिन्नात्पूर्णमेव उदच्यते जीवेश्वररूपेण
यस्मात्तस्मादनयोः पूर्णत्वमित्यर्थः । पूर्णस्य तत्त्वात्मनाऽवस्थितस्य पूर्णं रूपमादाय
तत्त्वंपदार्थयोः शोधनं कृत्वा शोधितपदार्थः सन्नित्यर्थः । पूर्णमेव ब्रह्म अवशिष्यते
ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः । यः पूर्णस्वरूपस्तं परमात्मानं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ३ ॥

नील०—ईश्वरस्यापि जीवत्वे उपाधिसम्बन्ध एव कारणमित्युक्तं । तत्र किं उपा-
धिभिः कृत्स्नं ब्रह्म उपाधीयते उत ब्रह्मणोंऽशा एवोपधीयन्ते । आद्ये जीवबहुत्वानुप-
पत्तिः । अन्त्ये ब्रह्मणि निष्कलत्वानुपपत्तिः । अंशस्यांशित्वायोगाज्जीवेशयोरभेदा-
नुपपत्तिश्चेत्याशङ्क्याह— पूर्णादिति । पूर्णात् व्यापकात् चिदाकाशात् पूर्णं चित्प्रति-
बिम्बभूतं जीवरूपं उद्धरन्ति पृथक्कुर्वन्ति । प्राणादय उपाधिदर्पणाः । ननु उपाधीनां
पृथक्सत्त्वे पूर्णस्य पूर्णत्वमेव व्याहन्येत इत्याशंक्याह—पूर्णादिति । पूर्णात्पूर्णं प्रच-
क्षते । अयंभावः घटाकाशन्यायेनोपाध्युपाधेययोः परस्परपरिच्छेदकत्वेऽन्यतरस्य
अपि पूर्णत्व न युज्यतेऽत्र उपाधिरप्यध्यस्त एव । तथाचाधिष्ठानाध्यस्तयोर्विषम-
सत्ताकत्वान्न परस्परपरिच्छेदकत्व किन्त्वितरेतरतिरोधायकत्वमेवास्तीति स्वस्वप्रतीति-
काले द्वयोरपि पूर्णत्वं, प्रतियोगिनस्तदानीमदर्शनात् । कल्पित उपाधिर्जीवेश्वरभेदे
हेतुरित्यर्थः । यदा तु पूर्णानि प्राणादीनि ब्रह्मण्यध्यस्तानि ततः सकाशात् हरन्ति
सम्यगवेक्षणेन दूरीकुर्वन्ति रज्जुत इव सर्पं तदा जीवेशभेदनिमित्तस्योपाधेरभावात्
पूर्णं ब्रह्मैवावशिष्यते । यथोक्तं विष्णुपुराणे 'विभेदजनकेऽज्ञाने नाशमात्यन्तिकं गते ।
आत्मनो ब्रह्मणा भेदमसन्तं कः करिष्यति" इति । एवं च अंशांशित्वरूपेण जीवे-
शयोर्भेदानुपगमादनुपचरितस्तयोर्भेदप्रतिपादकस्तत्त्वमस्यहं ब्रह्मास्म्ययमात्मा ब्रह्मे-
त्यादिरागम इति सिद्धम् । यत्पूर्णं शिष्यते तं भगवन्तं योगिनः पश्यन्ति ॥ ३ ॥

शब्दार्थः—सनातनम्=सनातन, भगवन्तम्=भगवान को, पूर्णात्=पूर्ण परमात्मा
के लक्षण मिलाने से, पूर्णम्=पूर्णजीव को, उद्धरन्ति=उपाय से पृथक् कर लेते हैं,
प्रचक्षते=कहा जाता है, पूर्णात्=पूर्णत्व की भावना से, हरन्ति=बिलकुल अलग कर
लेते हैं, पूर्णेन=पूर्ण भाव से, अवशिष्यते=शेष रह जाता है ॥ ३ ॥

सरलार्थः—वह विशुद्ध सच्चिदानन्द परब्रह्म ही पूर्ण है । अतः सर्वत्र ही वह
पूर्ण रूप से विद्यमान रहता है । जीव में भी वह पूर्ण रूप से ही अभिव्यक्त रहता
है । उपाधि से रहित हो जाने पर पूर्ण ही शेष रह जाता है । योगीजन आत्म-
साक्षात्कार के समय अपनी जीवात्मा में पूर्ण ब्रह्मस्वरूप का ही दर्शन करते हैं ।
इस प्रकार आत्मा और परमात्मा अंशांशी भाव न होने के कारण जीव भी पूर्ण
कहा जाता है । अतः उपाधि से पृथक् होने पर पूर्ण रूप को अलग कर दिया जाय
तो पूर्ण ही शेष रहता है । तात्पर्य यह है कि जीवात्मा और परमात्मा औपाधिक

८ स०

भेद ही है, वास्तविक नहीं। उसी सनातन ऐश्वर्यमय ब्रह्म का ही योगी लोग साक्षात्कार करते हैं ॥ ३ ॥

शा० भा० – स्पष्टोऽर्थः श्लोक ॥ ४ ॥

नील०—स्पष्टोऽर्थः श्लोकः ॥ ४ ॥

शब्दार्थः—यथा=जैसे, आकाशे = आकाश में, अवकाशः = अन्तराल, अस्ति= है और, तथा = जैसे गंगायाम् = गंगाजी में, वीचयः=लहरें हैं, तद्वत् = उसी प्रकार, सर्वम् = समस्त, चराचरम् = जड़-चेतन, ब्रह्मणि=ब्रह्म से, उत्पद्य=उत्पन्न होकर उसी में, लीयते=लीन हो जाता है, तम् = उस, सनातनम् = अनादि, भगवन्तम्= भगवान् को, योगिनः=योगी लोग, प्रपश्यन्ति=अपने आत्मा में देखते हैं ॥ ४ ॥

सरलार्थः—जिस प्रकार आकाश के आधार में अन्तराल है अर्थात् आकाश स्वरूप हो अन्तराल है तथा जैसे गङ्गा में जल की तरङ्गें निकलकर जल से अपृथक् ही रहती हैं, उसी प्रकार यह समस्त चराचर जगत ब्रह्म से ही उत्पन्न होकर उसी में लीन हो जाता है। श्रुति कहती है, 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति 'यत्प्रत्यभिसंविशन्ति।' (तैतरीय); योगी लोग उसी सनातन भगवान को अपनी आत्मा में दर्शन करते हैं ॥ ४ ॥

इदानीं द्वा सुपर्णाविति मन्त्रार्थं कथयति—

आपोऽथाद्भ्यः सलिलं तस्य मध्ये उभौ देवौ शिश्रियातेऽन्तरिक्षे।
आदध्रीचीः सविषूचीर्वसानावुभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ५ ॥

शा० भा०—आप इति। अस्मात्परमात्मनः आपः प्रथमं सृष्टाः। तथाचाह मनुः—"आप एव ससर्जादौ' इति। भूतपंचकोपलक्षणार्थोऽब्शब्दः। अनेन सूक्ष्मसृष्टिरभिहिता। अथानंतरम् अद्भयः पूर्वमेव सृष्टाभ्यः सलिलं भूतपंचकात्मकं स्थूलदेहादिकं सृष्टम्। तस्य सलिलस्य देहात्मनाऽवस्थितस्य मध्येऽन्तरिक्षे हृदयाकाशे उभौ जीवपरमात्मानौ देवौ द्योतनस्वभावौ शिश्रियाते वर्तेते। न केवलमंतरिक्षे शिश्रियाते। आदध्रीचीः सविषुचीर्वसानौ। आभिमुख्येन ध्रियमाणा अवस्थिता ताः अंचंतीत्यादध्रीच्यो दिशः, विषूच्यः उपदिशो विष्वग्गमनात्, ताभिः सह वर्तन्त इति सविषूच्यः प्राच्याद्याः सर्वा दिशः वसानौ आच्छादयंतौ उभौ बिभर्ति पृथिवीं दिवं च। एको जीवः आत्मनः स्वाभाविकचित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मत्वमनवगम्य अनात्मनि देहादौ आत्मभावमापन्नः पृथिवीं भूतभौतिकलक्षणं कर्मफलानुरूपं सुखदुःखात्मकं देहादिकं बिभर्ति। अपरो दिवं द्योतनात्मकं स्वात्मरूपं

त्रिभर्ति । श्रूयते च—द्वा सुपर्णाविति । यः स्वात्ममायया स्वात्मानं प्राणाद्य-नंतरं कृत्वांतरमनुप्रविश्य अभिपश्यन्नास्ते तं भगवंतं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ५ ॥

नील० —आप इति सलिलस्य सलिलमिव सलिलं एकरसं ब्रह्म सलिल एको द्रष्टाऽद्वैतो भवतीति श्रुतिप्रसिद्ध, तस्य मध्ये स्थिताभ्योऽद्भ्यः अबुपलक्षितेभ्यः पंचमहाभूतेभ्यः सकाशादुत्पन्नाः आपः पांचभौतिकं देहं अन्तरिक्षे हृदयाकाशे शिश्रियाते श्रयतः । कौ उभौ देवौ चिद्रूपत्वेन द्योतमानौ जीवेश्वरौ सुप्तिप्रलययोः क्रमेण तन्द्रावन्तौ ताभ्यामन्यः अतन्द्रितः निर्माय सवितुः जगत्कारणस्य विवस्वान् वस आच्छादने वस्वान् आच्छादनवान् तद्विपरीतो विवस्वान् अपरिच्छिन्नसंविद्रूपः सन्ततमनुदितानस्तमितप्रकाशः सर्वाधिष्ठानभूतः उभौ जीवेश्वरौ पृथिवीं दिवं च बिभर्ति । आसध्रीचीः सविषूचीर्वसानाविति पाठे सः शुक्लसंज्ञः शुद्ध आत्मा कीदृशौ उभौ देवौ सध्रीचीः विषूचीश्च अवसानौ दिशः उपदिशश्च पटवद्वसानौ दिगन्तपर्यन्तं विस्तीर्णावित्यर्थः । व्यवहिताश्चेति छांदसं क्रियोपसर्गयोर्व्यवधानं । शेषं प्राग्वदेव ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—तस्मात्=उस शुक्र ब्रह्म से. आपः = पंच महाभूत, अथ=और, अद्भ्यः=पंच महाभूत से, सलिलम्=स्थूल महाभूत, तस्य=मध्य में तथा, अन्तरिक्षे= अन्तरिक्ष में, उभौ=दोनों देव. जीवात्मा और परमात्मा, शिश्रियाते=आश्रय लिये हैं और, आदध्रोचाः=दिशा, सविषूचीः=उपदिशा को, वसानौ=आच्छादित करके, उभौ=दोनों देव, पृथिवीं=पृथ्वी, च=और, दिवम्=देवलोक को, बिभर्ति=भरण-पोषण कर रहे हैं, तम्=उस, सनातनम्=अनादि, भगवन्तम्=भगवान् को, योगिनः= सन्त-गण, प्रपश्यन्ति=देखते हैं ॥ ५ ॥

सरलार्थः—उसी परब्रह्म से आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी इन पाँच भूतों की सूक्ष्म तन्मात्राओं की उत्पत्ति हुई, अनन्तर उन सूक्ष्म तन्मात्राओं से स्थूल भूत देहादि की उत्पत्ति हुई उस अन्तरिक्ष के मध्य में जीवात्मा और परमात्मा आश्रय से रहते हैं। श्रुति कहती है, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखायौ समानं वृक्षं परिषस्वजाते तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति अनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ।'' (मुंडक); ये दोनों मायाश्रित जीव और ईश्वर दिशाओं और उपदिशाओं को आच्छादित करके पृथ्वी और अन्तरिक्ष का भरण-पोषण करते हैं। वस्तुतः ये दोनों भेद कार्यभेद से ही है परमात्मा एक ही है उसी सनातन भगवान को योगी लोग देखते हैं ॥ ५ ॥

इदानीं ज्ञानिनः स्वात्मावस्थानं दर्शयति—

चक्रे रथस्य तिष्ठंतं ध्रुवस्याव्ययकर्मणः ।
द्विव्यमजरं दिवि ॥
केतुमंतं वहंत्यश्वास्तं दिव्यमजरं दिवि ॥
योगिनस्तं प्रपश्यंति भगवन्तं सनातनम् ॥ ६ ॥

शा० भा०—चक्र इति। ध्रुवस्याव्ययकर्मणः परमेश्वरस्य चेश्वरात्मना-वस्थितस्य, रथस्य शरीरस्य त्रैलोक्यात्मनाऽवस्थितस्य चक्रे चंक्रमणात्मके ह्यौ तिष्ठन्तं केतुमंतं प्रज्ञावंतम् अत एव दिव्यम् अप्राकृतं अजरं जराममणादिषर्मविवर्जितम्, दिवि द्योतनात्मके अनुदितानस्तमितज्ञानात्मनाऽवस्थिते पूर्णानन्दे ब्रह्मणि वहंत्यश्वाः इन्द्रियाणि। एतदुक्तं भवति—यद्यपींद्रियाणि स्वभावतो विषयेष्वेव वर्त्तन्ते, तथापि विज्ञानसारथिना समाकृष्यमाणानि केतुमन्तं पुरुषं दिवि वहंति न पराग्विषय इति। तदुक्तं कठवल्लिषु—"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु। बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव। इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्। आत्मेंद्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः" इत्यादिना। यत्र परमात्मनि वहन्ति तं भगवंतं योगिन एव पश्यंति ॥ ६ ॥

नील०—चक्रे इति। रथस्य शरीरस्य, रथःस्यन्दनदेहयोरिति विश्वः। अध्रुवस्य विनाशिनोऽपि अव्ययं अविनाशि कर्म यस्य तस्य अव्ययकर्मणः चक्रे चक्रवच्चारके प्राक्कर्मणि निमित्ते सति तिष्ठन्तः कर्माधीना इत्यर्थः। अश्वाः इन्द्रियाणि शरीरस्थं विषयदेशं प्रति नयन्तः केतुमन्तं प्रज्ञावन्तं जीवं। किज्ञानेऽस्मात्तुन्। तं परमात्मानं प्रतिवहन्ति वहतिर्द्विकर्मा वश्यैरिन्द्रियाश्वैर्देहरथे योजितैः जीवः परमात्मतां नीयते अन्यथा शरीरे नष्टेपि तत्कृतं कर्म न क्षीयतेऽतः शरीरान्तरेण सद्य एव बद्ध्यते। दिव्यम् अलौकिकं अहंप्रत्ययविषयादन्यमशनायाद्यतीतमित्यर्थः। अजरमिति सर्व वकार-प्रतिषेधः। दिवि हार्दाकाशे ॥ ६ ॥

शब्दार्थः—ध्रुवस्य=ध्रुव, अव्ययकर्मणः=स्थिर कर्मवाले, रथस्य=रथ के, चक्रे=केन्द्र में, तिष्ठन्तम्=स्थित होने वाले, तम्=उस, दिव्यं=दिव्य, अजरं=अजर, केतुमन्तम्=केतुवाले ब्रह्मविद् को, अश्वाः=इन्द्रिय-गण, दिवि=ब्रह्मधाम में, वहन्ति=पहुँचाते हैं, तम्=उस सनातनम्=अनादि, भगवन्तम्=भगवान् को, योगिनः=सन्त गण, प्रपश्यन्ति=देखते हैं ॥ ६ ॥

सरलार्थः—नित्य एवं अविनाशी कर्म वाले शरीररूपी रथ के मध्य में विराज-मान ज्ञानी पुरुष को उसके ज्ञानेन्द्रिय रूपी घोड़े दिव्य परमात्मा के समीप ले जाते हैं। इसी कारण वह अलौकिक, अजर, अमर है। योगी लोग उसी प्राप्य सनातन ब्रह्म को देखते हैं ॥ ६ ॥

नानेन सदृशं किंचिद्विद्यत इत्याह—

न सादृश्ये तिष्ठति रूपमस्य न चक्षुषा पश्यति कश्चिदेनम्।
मनीषयाऽथो मनसा हृदा च य एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ७ ॥

शा० भा०—न सादृश्य इति । अस्य परमात्मनो रूपं न सादृश्ये तिष्ठति नान्येन सादृश्ये वर्त्तते नानेन सदृशं किंचिद्विद्यते इत्यर्थः । श्रूयते च 'न तस्य-प्रतिमा अस्ति यस्य नाम महद्यशः" इति । अत एवोपमाद्यविषयत्वम् । तथा च न चक्षुषा पश्यति कश्चिदप्येनं सर्वान्तरं परमात्मानम् । कथं तर्हि पश्यति ? मनीषया अध्यवसायात्मिकया बुद्ध्या । मनसा संकल्पविकल्पात्मकेन । हृदा च हृदयेन च साधनभूतेन । हृदयं विना नान्यत्र परमात्मन उपलब्धिः संभवतीति मत्वा हृदा चेत्युक्तम् । अथवा न केवलं मनोबुद्धिमात्रेण अपि च हृदा हृदयस्थेन च परमेश्वरेणानुगृहीताः सन्तो य एनं परमात्मानं विदुः अयमहमस्मीति ते अमृता अमरधर्माणो भवंति । अथवा हृदा हृदयेन परमात्मना । तथा च हृत्स्थे परमात्मनि हृदयशब्दं निर्वक्ति "स वा एष आत्मा हृदि तस्यैतदेव निरुक्तं हृदय-मिति तस्माद्धृदयमिति अहरहर्वा एवंवित्स्वर्गलोकमेति" इति । तथा तदधीना-मात्मसिद्धि दर्शयति श्रुतिः—यस्य देवे इति । एतं यं विदित्वा अमृता भवंति तं योगिन एव पश्यंति ॥ ७ ॥

नील०—अस्य रूपम् आकृतिः सादृश्ये न तिष्ठति । अनुपमस्वरूपमित्यर्थः । न चक्षुषेति सर्वेन्द्रियगोचरत्व निषिध्यते अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययमिति रूपादिहीनत्व-श्रुतेः । मनीषया मनसो निग्रहेण मनसा सूक्ष्मेण मनसैवानुद्रष्टव्यमिति तस्य कारणत्व-श्रुतेः । हृदा हृदुपलक्षिते देशे निगृहीतेन मनसा य एनं विदुः ते अमृताः मुक्ता भवन्ति ॥ ७ ॥

शब्दार्थः—अस्य=इस परमात्मा का, रूपं=रूप, सादृश्ये=किसी की तुलना में, न=नहीं, तिष्ठति=सिद्ध होता, कश्चित्=कोई, एनम्=इसे, चक्षुषा=नेत्र से, न=नहीं, पश्यति=देख सकता, अथः=किन्तु जो साधक, मनीषया=कुशाग्र बुद्धि से, मनसा=निर्मल मन से, च=और, हृदा=विशाल हृदय से, एनं=इसको, विदुः=जानते हैं, ते=वे, अमृताः=अमर; भवन्ति=होते हैं, तम्=उस, सनातनम्=सनातन, भगवन्तम्=महाप्रभु को, योगिनः=योगी जन ही, प्रपश्यन्ति=देख पाते हैं ॥ ७ ॥

सरलार्थः—उस परब्रह्म के स्वरूप की तुलना किसी से नहीं की जा सकती और नहीं इसे कोई स्थूल चक्षुओं से देख सकता है । परन्तु जो ब्रह्मजिज्ञासु हैं वे अपनी तीक्ष्ण बुद्धि के द्वारा निर्मल मन और हृदय से उसका बारबार चिन्तन करते हुए इसे जान लेते हैं वे नित्य अमरत्व को प्राप्त हो जाते हैं । उसी सनातन परब्रह्म को योगीजन निर्विकल्पक समाधि के समय देखते हैं ॥ ७ ॥

इदानीमिंद्रियाणां विषयेषु प्रवृत्तिरनर्थायेत्याह—

द्वादश पूगाः सरितो देवरक्षिताः मध्वीशते ।
यदनुविधायिनस्तदा संचरंति घोरम् ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ ८ ॥

शा० भा०—द्वादशेति । ये द्वादश पूगाः कर्मज्ञानेंद्रियाणि, एकादशं मनः, द्वादशी बुद्धिः, तेषामनेकपुरुषापेक्षयैकैकस्य पूगत्वमुच्यते । सरितः सरणशीलाः । देवरक्षिताः देवेन परमात्मना रक्षिताः । मधुवत् विषयं मधु ईशते नियमयंति, असांकर्येण स्वं स्वं विषयमनुभवंतीत्यर्थः । यदैवमनुभवंति तदा तदनुविधायिनो विषयपराः संचरंति घोरं संसारम् । तस्मादिंद्रियाणि विषयेभ्यः उपसंहृत्य स्वात्मन्येव वशं नयेदित्यर्थः । येन रक्षिता मध्वीशते तं देवं योगिन एव पश्यंति ॥ ८ ॥

नील०- तदवेदने संसारानुच्छेदमाह—द्वादशेति । द्वादशसंख्याः पूगाः समुदाया यस्यां तां द्वादशपूगां ते च—"चित्तादिपूगः, स्मरणादिपूगः श्रोत्रादिपूगः, श्रवणादिपूगः । वागादिपूगो वचनादिपूगः शब्दादिपूगो विषयादिपूगः ॥ १ ॥ प्राणादिपूगः श्वसनादिपूगः संस्कारपूगः मुक्तादिपूगः । एतैर्मवापूगवरैरविद्या नद्यामधश्चोपरि चैति जीवः" ॥ २ ॥ तादृशीं नित्यप्रवाहवतीं सरितमविद्याख्यां पिबन्तस्तत्कृतैरिष्टैः पुत्रपश्वादिभिर्लब्धैरतृप्यन्तः देवैश्चक्षुरादीनामनुग्राहकैः सूर्यादिभिरतत्तद्विषयदर्शनद्वाराऽनेकसंस्कारसन्ततिं सन्तन्वानैः । रक्षितां देवरक्षिता तेजीवाः तस्या अविद्यानद्याः मधु पुत्रपश्वादिकं मधुरं फलम् ईक्षन्तः पश्यन्तस्तल्लिप्सया घोरं महाभयंकरं संचरंति ऊर्ध्वाधोमार्गेषु पुनः पुनरावर्तन्ते इत्यर्थः । इह यत्राधिष्ठाने संचरन्ति ते परमेश्वरं योगिनः पश्यन्ति ॥ ८ ॥

शब्दार्थः—द्वादशपूगाः=बारह इन्द्रियों का समूहरूप, सरितः=सरणशील नदी, देवरक्षिताः=परमात्मा से रक्षित होती हुई, मधु=मधुमय विषय को, ईशते=नियमन अर्थात् अनुभव करती हैं और, तत्=उस अनुभव का, अनुविधायिनः=अनुगमन करनेवाले जो हैं वे, तदा घोरम्=इस समय घोर संसार में, संचरन्ति=डूबते-उतराते हुए भटकते रहते हैं ॥ ८ ॥

सरलार्थः—पांच कर्मेन्द्रियाँ, पांच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि ये बारह सरणशील सरिता के समान अपने अपने विषयों को पृथक-पृथक् प्रवाहित करते हैं, अर्थात् प्रत्येक इन्द्रिय भिन्न-भिन्न विषयों का ग्रहण करती हैं जो पुरुष उन विषयों से ही अनुराग करता है वे घोर दुःख, भय, जन्म-मरण रूप संसार चक्र में भटकते रहते हैं । परन्तु योगीलोग विवेकबुद्धि द्वारा अनासक्त भाव से कर्म करते हुए परमात्मा का साक्षात्कार कर लेते हैं ॥ ८ ॥

किंच दृष्टांतदार्ष्टान्तिकयोस्तत्राभिधानम्—

तदर्द्धमासं पिबति सञ्चितं भ्रमरो मधु ।
ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥९॥

शा० भा०—तदर्द्धेति । यथा मधुकरो भ्रमरोऽर्द्धमासोपार्जितं मधु अर्धमासं पिबति, एवमसावपि भ्रमरः भ्रमणविषयत्वात्संसारी तद्विषयं मधु अर्द्धमास-संचितमर्द्धमासं पिबति । पूर्वजन्मसंचितं कर्म अन्यस्मिन् जन्मनि भुंक्ते इति यावत् । भवेदप्यैहिकफलात्कर्मणः फलसिद्धिः कर्मान्तरभावित्वात्, कथं पुनरामुष्मिकफलात्कर्मणः फलसिद्धिः, कर्मणो विनाशित्वादित्याशंक्याह—ईशान इति । भवेदय दोषः यदि केवलात्कर्मणः फलसिद्धिः स्यात् ईशानः परमेश्वरः कृतप्रयत्नापेक्षः सन् सर्वेषु प्राणिषु प्राणाग्निहोत्रस्येतरस्य च तत्कर्मानुसारेण हविर्भूतमन्नादिकमकल्पयत् । यः ईशानः सर्वभूतेषु हविर्भूतमकल्पयत्तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ ९ ॥

नील० - ननु इह कृतस्य कर्मणः कृत्स्नस्य अमुत्रैव भोगात् कर्मशेषाभावे कुतः पुनरावृत्तिः किन्तु मुक्तिरेव भवतीत्याशंक्याह-तदर्धेति । तन्मधु कर्मफलं अर्धमास अर्धमासश्चन्द्रो यस्मिन् भोग्यत्वेन तत् अर्धमासं भवति । तथाहि—तेषां सोमो राजान्नं तं देवा भक्षयन्तीति श्रुत्याऽमुत्र गत्वा देवभावं प्राप्ता इष्टादिकारिणः सोमस्थममृतं पिबन्तीति दर्शितम् । तथाच भ्रमरो जीवः इतस्ततो भ्रमणशीलः अमुत्र सोमरूपमर्धं कर्मफलं भुंक्ते शेषेणात्रावर्तत इत्यर्थः । संचितमित्यनेन आमुष्मिकफलभोगानन्तरं ऐहिकफलभोगवासनाऽप्यस्तीति सूचितं । द्विविधं हि कर्म किंचिदामुष्मिकफलं किंचिदैहिकफल तत्रैकं भुक्त्वा इतरार्थमत्रावतरतीति श्लिष्टं । श्रुतिश्च यावत्सम्पातमुषित्वाऽथैतमेवाध्वानं पुनर्निवर्तन्ते तद्य इह रमणीयचरणा अभ्याशो ह ते रमणीयां योनिमापद्यन्ते कपूयचरणाः कपूयां योनिमापद्यन्त इत्याह । संपातः कर्म चरण कर्मशेषः अभ्याशो ह शीघ्रमेवेति । श्रुतिपदानामर्थः । य एवंविधो जीवः स एव ईशानः अन्तर्यामी सर्वभूतेषु तिष्ठति स एव च हविर्भृतं हविर्भिः सिद्धं यज्ञ च कल्पितवान् वेदस्य वैदिकमार्गस्य च प्रवर्तक इत्यर्थः । एतेन त्वम्पदार्थस्य तत्पदार्थभेद उक्तः । यो यज्ञम् अकल्पयत् तं योगिनः पश्यन्ति ॥ ९ ॥

शब्दार्थः—भ्रमर=भ्रमणशील जीवात्मा, तत्=उस, अर्धमासम्=पूर्वजन्म के, संचितम्=संचित, मधु=कर्मफल को, पिबति = इस जन्म मे सेवन करता है; ईशानः= कर्म-फल-संयोजक परमात्मा, सर्वभूतेषु=सभी प्राणियों के लिए, हविर्भृतम्=भोग

पदार्थों को, अकल्पयत्=प्रस्तुत करता है। योगिनः=योगीजन, तम्=उस, सनातनम्=सनातन, भगवन्तम्=भगवान् को, प्रपश्यन्ति=जान सकते हैं ॥ ९ ॥

सरलार्थः--संसार चक्र में भ्रमण करनेवाला जीव अपने पूर्व जन्म के संचित कर्मों के फल को इस जन्म में भोगता है और आधा इस जन्म के पुरुषार्थ से भोगता है। पुनः उन्हीं कर्मों के शेष फल को पुनर्जन्म में भोगता है। भ्रमणशील जीवों के लिए परमात्मा ने भोग पदार्थों को पूर्व से ही नियमित किया हुआ है। तात्पर्य है कि परमात्मा की इस सृष्टि में समस्त पदार्थों की व्यवस्था भी वही करता है। योगी लोग उसी अनन्त परमेश्वर का दर्शन करते हैं ॥ ९ ॥

किंच, किमेते मध्वाशिनो वभ्रम्यमाणाः परिवर्तन्त एव सर्वदा, किंवा ज्ञानं लब्ध्वा मुक्ता भवंतीत्याशंक्याह—

हिरण्यपर्णमश्वत्थमभिपत्य ह्यपक्षकाः ।
तत्रैव पक्षिणो भूत्वा प्रपतंति यथासुखम् ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥१०॥

शा० भा०—हिरण्यपर्णमिति। ये अपक्षकाः ज्ञानपक्षरहिताः मध्वाशिनः परिवर्त्तन्ते, ते हिरण्यपर्णमश्वत्थं हितं च रमणीयं चेति हिरण्यं हितं रमणीयं च पर्णं यस्याश्वत्थस्य। तथा चाह भगवान् वासुदेवः—"छंदांसि यस्य पर्णानि" इति। हिरण्यवर्णमश्वत्थमभिपत्य आरुह्य वेदसंयोगिब्राह्मणादिदेहं प्राप्येत्यर्थः। तत्रैव ब्राह्मणादिदेहे पक्षिणो ज्ञानिनो भूत्वा। तथा च ब्राह्मणम् "ये वै विद्वांसस्ते पक्षिणो ये अविद्वांसस्ते अपक्षाः" इति। प्रपतंति यथासुखम् प्रयत्नं कृत्वा मुक्ता भवंतीत्यर्थः॥ यं ज्ञात्वा प्रपतंति तं योगिन एव पश्यंति॥ १०॥

नील०—ननु ईश्वरस्य जीवभावे किं कारणमत आह—हिरण्येति। हिरण्यानि हरणशीलानि आपातरमणीयत्वात् पर्णानीव अवयवाः स्त्रीपुत्रादयो यस्य तं हिरण्यपर्णम् अश्वत्थं न श्वोऽपि तिष्ठतीत्यश्वत्थो नश्वरः अविद्यावृक्षः तमभिपद्य प्राप्य अपक्षकाः न सन्ति पक्षाः उत्क्रमणहेतव उपाधयः प्राणरूपा येषां ते चिदात्मानः तत्र अविद्यायां पक्षिणो भूत्वा प्राणाद्युपाधिप्राप्त्या उत्क्रमणयोग्या भूत्वा यथासुखं यथावासनं प्रपतन्ति तासु तासु योनिष्वित्यर्थात्। बहुवचनं औपाधिकरूपभेदापेक्षया। श्रूयते च प्राणोपाधिकमुत्क्रमणं चिदात्मनः प्रश्नोपनिषदि षोडशकलं पुरुषं प्रस्तुत्य स ईक्षां चक्रे कस्मिन्न्वहमुत्क्रान्त उत्क्रान्तो भविष्यामि कस्मिन्वा प्रतिष्ठास्यामीति स प्राणमसृजतेति ॥ १० ॥

शब्दार्थः--अपक्षकाः=ज्ञान-पंख से हीन कल्याणेच्छु जन हिरण्यपर्णम्=सुनहले पर्णवाले, अश्वत्थम्=वेदवृक्षपर, अभिपत्य=आरूढ होकर, हि=तत्त्व ज्ञानपूर्वक,

तत्रैव=वेद-रूपी वृक्ष पर ही, पक्षिणः = ज्ञान-वैराग्य-पंख से युक्त, भूत्वा=होकर, यथासुखम्=अपने यथेष्ट मोक्ष-सुख में, प्रपतन्ति=लीन हो जाते हैं, योगिनः=योगी जन, तम्=उस, सनातनम्=सनातन भगवन्तम्=भगवान को प्रपश्यन्ति=जान सकते हैं ।। १० ।।

सरलार्थः--ज्ञान पक्ष से रहित अर्थात् अज्ञानी लोग सकाम भाव से कर्म करते हुए संसार चक्र में भटकते रहते हैं परन्तु जब वे मोक्ष की इच्छा करते हैं तो सुनहले पर्णवाले वेदवृक्ष पर आरूढ़ होकर ज्ञान-वैराग्य रूपी पंख से युक्त हो यथेष्ट मोक्षसुख में लीन हो जाते हैं। भाव यह है कि मुमुक्षु जन श्रुतियों का अनुसन्धान करते हुए जब ज्ञान लाभ करते हैं तब उन्हें ससार की सम्पूर्ण विनश्वर वस्तुओं से वैराग्य उत्पन्न हो जाता है और केवल अविनश्वर आत्मस्वरूप ब्रह्म का ही चिन्तन करता रहता है और उसी में लीन हो जाता है। गीता कहती है, 'वैराग्येण च गृह्यते' (गी० योगीजन उसी परब्रह्म को हृदय में धारण करते हैं।। १० ।।

इदानी योगं दर्शयति—

अपानं गिरति प्राणः प्राणं गिरति चन्द्रमाः ।
आदित्यो गिरते चन्द्रमादित्यं गिरते परः ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ।। ११ ।।

शा० भा०—अपानमिति । अपानं गिरति उपसंहरति प्राणः । प्राणं गिरति चंद्रमाः मनः उपसंहरति । मनसश्चंद्रमा अधिदैवतं, चंद्रशब्देन मन उच्यते । तं चंद्रं मन आदित्यो बुद्धिर्गिरते, बुद्धेश्चाधिदैवतमादित्यः । तमादित्यं बुद्धिं गिरते परः ब्रह्म । एतदुक्तं भवति समाधिवेलायामपानं प्राणे उपसंहृत्य प्राणं मनसि मनश्च बुद्धौ बुद्धिं परमात्मनि उपसंहृत्य स्वाभाविकचित्सदानंदाद्वितीयब्रह्मात्मनैवावतिष्ठत इत्यर्थः ।। ११ ।।

नील० इदानीं तद्दर्शनाभ्युपायं योगं संक्षेपेणाह — अपानमिति । गिरति उपसंहरति स्वात्मनि योगशास्त्रोक्तरीत्या 'पार्ष्णिना गुदमापीड्य दन्तैर्दन्तान्संस्पृशन् । दृढासनोऽपानवायुमुन्नयेच्च शनैः शनैः ।। १ ।। तं प्राणेनैकतां नीत्वा स्थिरं कृत्वा हृदम्बरे । चेतोमात्रेण तिष्ठेत तच्च बुद्धौ विलापयेत्" ।। २ ।। चन्द्रमा अत्र मनः, आदित्यो बुद्धिः, परः परमात्मा, एवं य आदित्यं गिरति तं योगिनः पश्यन्ति ।।११।।

शब्दार्थः--प्राणः=प्राण, अपानम् = अपान को, गिरति=लीन कर लेता है, चन्द्रमाः=चन्द्रमारूपी-मन, प्राणम्=प्राण को, गिरति=लीन कर लेता है, आदित्यः= आदित्यरूपी बुद्धि, चन्द्रम्=चन्द्ररूपी मन को, गिरति=लीन कर लेती है, तथा परः= बुद्धि से परे परमात्मा, आदित्यम्=बुद्धि को, गिरति=लीन कर लेता है; तम्=उसी

बुद्धि के परे, सनातनम्=सनातन, भगवन्तम्=भगवान् का, योगिनः=योगी लोग, प्रपश्यन्ति=दर्शन करते हैं॥ ११॥

सरलार्थः—अब लय-योग द्वारा ब्रह्मप्राप्ति का निदर्शन करते हैं—जो वायु प्रश्वास द्वारा नासिका से हृदय तक पहुँचता है, उसे 'प्राण' कहते हैं और हृदय से ऊपर की ओर नासिका तक लौटने वाली वायु को 'अपान' कहते हैं। साधक को चाहिए कि वह प्राणवायु द्वारा अपान को उसमें लीन करें। प्राण को सकल्प-विकल्पात्मक मन में लीन करे और मन को निश्चयात्मिका अन्तःकरण वृत्ति रूप बुद्धि में लीन कर दें। तदनन्तर बुद्धि द्वारा आत्मचिन्तन करते हुए निर्विकल्प समाधि में लीन हो जाता है। निर्विकल्प समाधि में पहुँचते ही वह ब्रह्म में लीन हो जाता है॥ ११॥

इदानीं परस्य जीवात्मनाऽवस्थानं दर्शयति—

एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन्।
तं चेत्सततमुत्क्षिपेन्न मृत्युर्नामृतं भवेत्॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ १२॥

शा॰ भा॰—एकमिति। हंति अविद्यां तत्कार्यं चेति हंसः परमात्मा 'भूत-भौतिकलक्षणात्संसारात् सलिलात् उच्चरन् ऊर्ध्वं चरन् संसाराद् बहिरेव वर्त्तमानः एकं जीवाख्यं पादं नोत्क्षिपति नोद्धरति नोपसंहरति, रूपंरूपं प्रति-रूपोऽवतिष्ठत इत्यर्थः। श्रूयते कठवल्लीषु—"एकस्तथा सर्वभूतांतरात्मा" इति। कस्मात्पुनरेकं पादं नोत्क्षिपेति इत्यत्राह—तं जीवाख्यं पादं सततं सततयायिनं यद्युत्क्षिपेत् स्वमायया स्वमात्मानं प्राणाद्यनंतभेदं कृत्वा तेष्वप्रविश्य जीवात्मना यदि नावतिष्ठेत्, तदा न मृत्युर्जननमरणादिलक्षणः संसारो भवेत्, संसारिणो जीवस्याभावात्। तथा अमृतममृतत्वं मोक्षो न भवेत्, अननुप्रविष्टस्य दर्शनासंभवात्। तथाच तदर्थमेवानुप्रवेशं दर्शयति—रूपंरूपमिति। तथाचाथर्वणी श्रुतिः—"एकं पादं नोत्क्षिपति सलिलाद्धंस उच्चरन्। स चेदुत्क्षिपेत्पादं न मृत्युर्नामृतं भवेत्" इति। "एकं रूपं बहुधा यः करोति" इति च। यः पादरूपेण जीवात्मा त्रिपादरूपेण सच्चिदानंदाद्वितीयब्रह्मात्मनाऽवस्थितस्तं परमात्मानं योगिन एव पश्यन्ति॥ १२॥

नील॰—ननु नित्यापरोक्षं ब्रह्म यत्साक्षादपरोक्षादिति श्रुतेः। अतः किं योगेने-त्याशंक्याह—एकमिति। हंस इव हंसः परमात्मा शरीरवृक्षमारूढोऽपि तेन असंबद्धः स चतुष्पात् सोऽयमात्मा चतुष्पादिति श्रुतेः। चतुर्णां पादानां जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त-तुरीयाख्यानां मध्ये एक पादं तुरीयं नोत्क्षिपति न प्रकाशयति। कीदृशः सलिलात्

निर्विशेषात् अतिगंभीरात् उच्चरन् उपर्येव पादत्रयेण चरन् त तुरीयं पादं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेय इति श्रुतिप्रसिद्धम् ऊर्ध्वाय उपरितनाय पादत्रयाय विश्वतैजसप्राज्ञाख्याय तेषां चालनायेत्यर्थः। संततं व्याप्तं, तुरीय त्रिषु सन्ततमित्युक्तः। नहि चैतन्यानुबन्धं विना विश्वादयः स्वकार्ये प्रभवन्ति तं चेत् पश्यति तदा मृत्युरमृतं च अज्ञानकृतं द्वयं सति ज्ञाने कालत्रयेऽपि नास्तीत्यर्थः। यद्यपि नित्यापरोक्षं ब्रह्म तथापि उपाधिविशिष्टेनैव रूपेण परोक्षं ननु ततो निष्कृष्टरूपेणास्तदापरोक्ष्याय योगोऽपेक्षित इत्यर्थः। सततमृत्विजमिति पाठे ऋत्विग्वत् पादत्रयक्रियानिमित्तमित्यर्थः॥ १२॥

शब्दार्थः—हंसः=परमात्मा, सलिलात्=संसार से, उच्चरन्=ऊपर विचरता हुआ भी, एकम्=एक, पादम्=तुरीय पाद को, न=नहीं, उत्क्षिपेत्=प्रकट करता, चेत्=यदि, तम्=उस तुरीय को भी, सततम्=निरन्तर, उत्क्षिपेत्=तीन अवस्थाओं में प्रकट कर दे तो, न = नहीं, मृत्युः = मृत्यु, न=नहीं, अमृतम्=मोक्ष की समस्या, भवेत्=हो सके॥ १२॥

सरलार्थः—इस संसार सलिल से ऊपर उठा हुआ हंस रूप परमात्मा अपने एक पाद तुरीय को जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्त के मध्य प्रकाशित होने नहीं देता। यदि इन अवस्थाओं में भी तुरीय पाद को सतत प्रकट करता रहे तो बन्ध और मोक्ष का प्रश्न ही न हो। अथवा—

हंस के समान वह परमात्मा भूतभौतिकात्मक संसार सलिल से ऊपर पृथक् रहता हुआ अपने एक पाद जीव को ऊपर नहीं उठाता है, यदि उसे भी वह सतत ऊपर उठा ले अर्थात् अपनी माया से पृथक् कर ले तो जन्म-मृत्यु रूप संसार एवं अमृत स्वरूप मोक्ष की व्यवस्था ही न रहे। ऐसे ही परमात्मा का योगीजन हृदय में साक्षात् करते हैं॥ १२॥

केन तर्ह्युपाधिना परः पादात्मना अवतिष्ठत इत्याशंक्य परस्यैव लिंगोपाधिकं जीवात्मानं दर्शयति—

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा लिङ्गस्य योगेन संयाति नित्यम्।
तमीशमीड्यमनुकल्पमाद्यं पश्यन्ति मूढा न विराजमानम्॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम्॥ १३॥

शा० भा०—अंगुष्ठमात्र इति। स एव सच्चिदानंदाद्वितीयः अंतरात्मा सर्वभूतांतरात्मा पुरुषः पूर्णः परमात्मा लिंगयोगेन अंगुष्ठमात्रपरिमाणपरिछिन्नः संयाति संसरति नित्यम्। कस्मात्पुनः कारणात् लिंगयोगेनांगुष्ठमात्रः संसरति? तत्राह—यो लिंगस्य योगेनांगुष्ठमात्रः संसरति तमीशं सर्वस्येशितारम् ईड्यं

स्तुत्यम् अनुकल्पं सर्वमनुप्रविश्यात्मना अनुकल्पयतीत्यनुकल्पम् आद्यम् आदौ भवं विराजमानं यस्मान्मूढा अविवेकिनः देहद्वयात्माभिमानिनो न पश्यंति तस्मादात्मनो ब्रह्मभावानवगमात्संसरन्ति । यमात्मानम् अपश्यन्तः संसरन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १३ ॥

नील०—अंगुष्ठेति । अगुष्ठमात्रे हृदये प्रतिष्ठितत्वादंगुष्ठमात्रः । एतेन हृदयपुण्डरीक ध्यानस्थलमुपदिष्टं भवति । पुरुषः पूर्णः अन्तरात्मा बाह्यात्मभ्योऽन्नमयादिभ्यः पंचभ्य आन्तरः लिङ्गस्य पञ्चप्राणमनोबुद्धिदशेन्द्रियात्मकस्य लिंगशरीरस्य सम्बन्धेन नित्यं सयाति इह लोकपरलोकौ जाग्रत्स्वप्नौ वा गच्छति तं ईशं यमयितारं ईड्यं स्तुत्यम् अनुकल्पम् उपाधिमनु सर्वकार्येषु समर्थं आद्यं मूलकारणं विराजमान प्रत्यक्चैतन्यरूपेण प्रकाशमानमपि मूढाः न पश्यन्ति त योगिनः पश्यन्ति ॥ १३ ॥

शब्दार्थः—अन्तरात्मा=अन्तर्यामी, पुरुषः=परमात्मा, लिङ्गस्य=लिंग शरीर के, योगेन=योग से, नित्य=सर्वदा, अंगुष्ठमात्रः=अगुष्ठ परिणामी होकर, सयाति=जन्म मरण रूपी संसार को प्राप्त कर रहा है और, मूढाः=विक्षिप्त लोग, ईड्यम्=स्तुति के योग्य, अनुकल्पम्=सर्व-समर्थ, विराजमानम् = दीप्तिमान्, तम्=उस, ईशम्= प्रेरक प्रभु को, न=नहीं, पश्यन्ति=देख रहे हैं। तम्=उस, सनातनम् = सनातन, भगवन्तम्=महाप्रभु का, योगिनः=योगी जन ही, प्रपश्यन्ति=देख सकते हैं ॥ १३ ॥

सरलार्थः वह पूर्णपुरुष परमात्मा सम्पूर्ण प्राणियों की अन्तरात्मा में विराजमान रहता हुआ अंगुष्ठमात्र परिमाणयुक्त हृदयाकाश में स्थित रहता है और उसी जीव के सम्बन्ध से नित्य जन्म-मरण के चक्र मे घूमता रहता है अर्थात् अन्नमयादि पाँच कोशों क भीतर पाँच प्राण, मन, बुद्धि और दस इन्द्रिय रूप लिङ्ग शरीर के सम्बन्ध से ससार में नित्य आवागमन करता है। वह सबका शासक, स्तुति के योग्य, समस्त कार्यों में समर्थ सबका आदि कारण एवं सर्वव्यापक है। उस परमात्मा को मूढ अविवेकी जीव देख नहीं पाते किन्तु योगीजन अपने ज्ञान चक्षुओं से उसका नित्य ही दर्शन करते हैं ॥ १३ ॥

इदानीमिन्द्रियाणां विषयाणां चानर्थहेतुत्वं दर्शयति—

गूहन्ति सर्पा इव गह्वरेषु क्षयं नीत्वा स्वेन वृत्तेन मर्त्यान् ।
तं विप्रमुह्यन्ति जना विमूढास्तैर्दत्ता भोगा मोहयन्ते भवाय ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १४ ॥

शा० भा०—गूहंतीति । यथा सर्पा गह्वरेभ्यो निष्क्रम्य स्वेन वृत्तेन विषप्रदानेन मर्त्यान् क्षयं नीत्वा गह्वरेषु गूहंति स्वात्मानं प्रच्छादयंति, एवम् इन्द्रियसर्पाः श्रोत्रादिषु शयानाः श्रोत्रादिभ्यो निर्गत्य स्वेन वृत्तेन विषयप्रदानेन मर्त्यान्

क्षयं नीत्वा गह्वरेषु गूहंति स्वमात्मानं प्रच्छादयंति, ते विप्रमुह्यन्ति विषयविषाभिभूता विशेषेण मुह्यन्ति तद्व्यतिरिक्तं न किंचिज्जानंतीत्यर्थः । तथाच श्रुतिः—"यथा प्रियया संपरिष्वक्तः" इति । तैरिंद्रियैर्दत्ताः विषकल्पा भोगाः विषयाः मर्त्यान्मोहयन्ते, पुनः पुनर्मोहहेतवो भयंति । यदिदं त्रिषयैर्विमोहनं तद् भवाय गर्भजन्मजरामरणसंसाराय भवति । यमीड्यमनुकल्पमाद्यम् अदृष्ट्वा विषयविषांधा मुह्यन्ति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १४ ॥

नील०—संन्यासं कृत्वाऽपि वंचकाना सर्गातर्न कर्तव्येत्याह–गूहन्तीति । यथा सर्पाः खलाः परमुद्वेजयन्तोऽपि बिल दौ निलीय आत्मान गूहन्ति तद्वत् तेषु बाह्यतो रमणीयेषु तेषां समीपे विमूढाः जनाः मुह्यन्ति अतः सम्यक्परीक्षितैः सहैव संगतिर्यल्लाभाय कर्तव्या तं योगिनः पश्यन्ति ॥ १४ ॥ १५ ॥

शब्दार्थः सर्पाः=सर्पों के, इव=समान, इन्द्रियाँ, स्वेन=अपने, वृतेन=विषय विष के द्वारा, मर्त्यान्=प्राणियों को, क्षयम्=नष्ट, नीत्वा=करके, गह्वरेषु=अपने-अपने गोलक में, गूहन्ति=छिप जाती हैं, ते=वे विष के मारे गये, विमूढाः=मूढ, जनाः=प्राणी, विप्रमुह्यन्ति=अपने को खो बैठते हैं, तैः=उन इन्द्रियों द्वारा, दत्ताः=प्रदत्त भोगाः=भोग, भवाय=जन्म मरण के लिए, मोहयन्ते=मोहित कर लेते हैं। तम्=उस, सनातनम्=सनातन, भगवन्तम्=महाप्रभु को, योगिनः=योगी लोग, प्रपश्यन्ति=देख सकते हैं। ॥ १४ ॥

सरलार्थः—जैसे सर्प जीवों को डंसकर बिल में छिप जाता है वैसे ही इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयरूपी विष को प्राणियों में फैलाकर उन्हें नष्ट कर देती हैं। अर्थात् मनुष्य उन विषयों के क्षणिक सुख में फँसकर वास्तविक ज्ञान के अभाव में इधर-उधर भटकता रहता है जिसके फलस्वरूप वह इन्द्रिय जन्य भोगों से आक्रान्त होकर जन्म-मरणरूप सांसारिक क्लेश को भोगता है। इस प्रकार विषयों में आसक्त सकामी पुरुष विवेकज्ञान से शून्य हो जाते हैं और अविनाशी परमात्मा को जान नहीं पाते। परन्तु योगीजन उस सनातन ब्रह्म का ज्ञानचक्षु द्वारा साक्षात्कार कर लेने में समर्थ होते हैं ॥ १४ ॥

संमतिमाह—

नात्मानमात्मस्थमवैति मूढः संसारकूपे परिवर्तते यः।
त्यक्त्वाऽऽत्मरूपं विषयांश्च भुंक्ते स वै जनो गर्दभ एव साक्षात् ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् । १५ ॥

शा० भा० नात्मानमिति । मूढः आत्मानात्मविवेकशून्यः पुमान् आत्मस्थं आत्मनि तिष्ठंतं न जानाति स एवाहमिति, अतः कारणात् संसारकूपे संसार

एव कूपस्तस्मिन्परिवर्तते श्वशूकरादियोनिं प्राप्नोति. अपरोक्षाप्मचैतन्यं देहादिदोषरहितं सर्वावभासकम् येन सूर्यस्तपति स एव तत्स्वरूपं परित्यज्यानित्यान्विषयान् भोगान् भुंक्ते, स जनो न, तर्हि किं ? साक्षाद्गर्दभ एव। एवंविधं पूर्वोक्तमात्मानं योगिन एव पश्यंति ॥ १५ ॥

शब्दार्थः—संसारकूपे=संसाररूपी कूप में, परिवर्तते=भटक रहा है, मूढः=मूर्ख, आत्मस्थम्=अपने हृदय में स्थित, आत्मानम्=परमात्मा को, न=नहि, अवैति=जानता, आत्मरूपम्=अपने प्रियतम आत्माको, त्यक्त्वा=त्याग कर, विषयान्=विषयों को, भुंक्ते=भोगता है, वै=निश्चयपूर्वक, साक्षात्=प्रत्यक्ष, गर्दभ=गधा, एव=ही है ॥ १५ ॥

सरलार्थः—जो आत्मा और अनात्मा के भेद को नहीं जानता ऐसा अविवेकी पुरुष संसाररूपी कूप में भटकता रहता है और अपनी अन्तरात्मा में ही स्थित परमात्मा को जान नहीं पाता। भाव यह है कि इन्द्रिय-देहादि को ही आत्मा समझने वाला मूढ पुरुष अपनी ही अन्तरात्मा में सूक्ष्मरूप से निगूढ परमात्मा को वैसे ही नहीं जान पाता जैसे कूप में ही चलने वाला मेढक विशाल संसार के विषय में कुछ नहीं जानता। वह अज्ञानी आत्मा के वास्तविक स्वरूप का त्याग कर पुत्र-कलत्रादि अनात्म विषयों में फँसा रहता है और विषय भोगों को ही सब कुछ समझता है। वह पुरुष साक्षात् गर्दभ ही है। अतः योगीजन ही आत्मस्वरूप सनातन ब्रह्म का दर्शन करते हैं ॥ १५ ॥

ज्ञानिनां मोक्षस्वरूपमाह—

असाधना वाऽपि ससाधना वा समानमेतत् दृश्यते मानुषेषु।
समानमेतदमृतस्येतरस्य युक्तास्तत्र मध्व उत्सं समापुः ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १६ ॥

शा० भा०-असाधना वेति। ये असाधनाः शमदमादिसाधनरहिताः ये च शमदमादिसाधनयुक्ताः ससाधनाः, तेषु समानं साधारणमात्मस्वरूपं दृश्यते मानुषेषु। तथा समानममृतस्य मोक्षस्य इतरस्य संसारस्य सति चासति च तेषां मध्ये ये युक्ताः शमदमादिसाधनयुक्ताः, ते तस्मिन् विष्णोः परमे पदे मध्वः मधुनः उत्सं समापुः पूर्णानंदं ब्रह्म प्राप्नुवंतीत्यर्थः। यमुत्सं सम्पूर्णानन्दं युक्ताः प्राप्नुवंति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १६ ॥

नील०—नन्वंगुष्ठमात्रस्य हृदये स्थितस्य हृदयतापेन तापप्राप्तिरपि स्यात्तथा च तापस्वभावस्य कुतो मुक्तिरित्याशङ्क्य तस्य कदाचिदपि तापो नास्तीत्याह—असाधना इति। मानुषेषु संघाताभिमानिषु केचिदसाधनाः शमादिहीनाः। केचित्ससाधनास्तद्युक्ता वा भवन्तु तत्स्थं एतद्ब्रह्म समानं निर्विकारं असंगो ह्ययं पुरुष इत्यसंगत्व-

श्रुतेः । एवं मुक्तबद्धयोरपीत्याह—समानमिति । कस्तर्हि मुक्तेषु विशेष इत्यत आह—मुक्ता इति । तत्र तेषु मध्ये मुक्ता मध्वः मधुनः ब्रह्मरसस्य उत्सं उत्कर्षं परां काष्ठां समापुः सम्प्राप्ताः । अयंभावः—अवस्थान्तरगतस्य दुःखस्यावस्थान्तरेऽदर्शनादुपाधिधर्म एव दुःखं भ्रान्त्या उपहितेऽपि भाति स्फटिके इव जपाकुसुमलौहित्यं सर्वात्मना उपाधित्यागात्तु मुक्ताना न दुःखस्पर्शोऽस्तीति ते निरतिशयानन्दभाज इति । य एव समानस्तं योगिनः पश्यन्ति ॥ १६ ॥

शब्दार्थः— असाधनाः=कोई साधन-हीन हो, वापि=अथवा, ससाधनाः = साधन-सम्पन्न, वा=परन्तु, मानुषेषु=सब मनुष्यों में, एतत् = यह परमात्मा, समानम् = समान रूप से ही, दृश्यते=देखा जाता है, तथा=उसी तरह, अमृतस्य = मोक्ष तथा, इतरस्य= संसार के विषय में भी, एतत् = यह ब्रह्म, समानम् = एकरस है किन्तु, तत्र=उन दोनों में, मुक्ताः=साधन युक्त मनुष्य ही, मध्यः = ब्रह्मरस की, उत्सम् = उत्कृष्ट मधुरिमा को, समायुः=प्राप्त करते हैं, तम्=उस, सनातनम्=सनातन, भगवन्तम् = प्रभु को, योगिनः= योगीजन, प्रपश्यन्ति=साक्षात्कार करते हैं ॥ १६ ॥

सरलार्थः— कोई साधन सम्पन्न हों, अथवा साधनहीन हों, वह परमात्मा सम्पूर्ण भूतों में समान रूप से व्याप्त रहता है । वह बद्ध और मुक्त दोनों के लिए समान है । परन्तु अन्तर इतना है कि उनमें जो श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान-वैराग्य सम्पन्न पुरुष ही आनन्द के मूल स्रोत परमात्मा को प्राप्त होते हैं, दूसरे नहीं । भाव यह है कि ब्रह्म सर्वव्यापक है, उसके लिए न कोई प्रिय है और न अप्रिय । जीवात्मा से उसका कोई पृथक् स्वरूप न होने से मुक्त और बद्ध दोनों में ही वह समान है परन्तु बद्ध पुरुष अज्ञानावरण के कारण उसे देख नहीं पाते । धीर योगी जन उसी का साक्षात्कार करते हैं ॥ १६ ॥

किंच—

उभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति तदाहुतं चाहुतमग्निहोत्रम् ।
मा ते ब्राह्मी लघुतामादधीत प्रज्ञानं स्यान्नाम धीरा लभन्ते ।।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १७ ॥

शा० भा —उभाविति । उभौ लोकौ इहपरौ विद्यया ब्रह्मात्मत्वविषयया व्याप्य याति तत्पूर्णानन्दं ब्रह्म । यस्मादुभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति, तस्मादहुतं चाग्निहोत्रम् अनेनात्मज्ञानेनाभिमुख्येन हुतं भवति । सर्वमग्निहोत्रादिकं कर्मफलं चानेनैव सम्पादितं भवतीत्यर्थः । यस्मादुभौ लोकौ विद्यया व्याप्य याति यस्मादनाहुतमग्निहोत्रं हुतं भवति, तस्मान्मा ते तव ब्राह्मी ब्रह्मविषया विद्या लघुतां मर्त्यभावं कर्मवदादधीत न करोतु, अपितु प्रज्ञानं तमसः परं परमात्मानं

आत्मत्वेन संपादयतु । यदा ब्रह्मविद्याव्यापृतस्य परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छतः प्रज्ञानमिति नाम स्यात्, ब्रह्मेति नाम भवतीत्यर्थः । तथा च श्रुतिः—"प्रज्ञानं ब्रह्म" इति । तत्प्रज्ञानं ब्रह्म धीरा धीमंतो लभंते तं योगिन एव पश्यन्ति ॥१७॥

नील० एवं ब्रह्मप्राप्तौ सर्वफलावाप्तिं कृतकृत्यतां चाह—उभाविति । उभौ लोकौ आत्मलोकं अनात्मलोकं च विद्यया ब्रह्माकारया अन्तःकरणवृत्त्या अहमेवेदं सर्वोस्मीति सार्वात्म्याकारया च वृत्त्या व्याप्य प्रकाश्यं ज्ञात्वा याति प्रारब्धकर्मावष्टब्धदेहः सन् संचरति विद्वान् यदैवं तदा अहुतमप्यग्निहोत्रम् अस्य हुतमेव भवति ज्ञाने सर्वाणि कर्मफलान्यंतर्भवन्तीत्यर्थः । अतः ब्राह्मी वाक् ते तव अहंमहानस्मीति वदतः लघुतां नीचत्वं मा आदधीत मा करोतु अहं दासोऽस्मीति मा ब्रूहीत्यर्थः । तं चेद् ब्रूयुरतिवाद्यसीत्यतिवाद्यस्मीति ब्रूयान्नापह्नवीतेति श्रुत्यैव ब्रह्मविदामतिवादित्वदोषो नास्तीति प्रदर्शितम् । प्रज्ञानमिति । अस्य नामैव स्यात् प्रज्ञानं ब्रह्मेति ब्रह्मविद्ब्रह्मैव भवति च श्रुतिभ्यां ब्रह्मणा विद्वद्रूपेण स्वमाहात्म्यं न गोपनीयमधिकारिष्वेव । प्राकृतेषु तु गोपनीयमेव । "तथा चरेत वै योगी सतां धर्ममदूषयन् । जना यथाऽवमन्येरन् गच्छेयुर्नैव संगतम्" इति । एतच्च प्रज्ञानमिति नाम धीराः ध्यानवन्त एव लभन्ते यस्य नाम प्रज्ञानं तं योगिनः पश्यन्ति ॥ १७ ॥

शब्दार्थः—विद्यया=ब्रह्माकार वृत्ति द्वारा, उभौ=दोनों, लोकौ=इस लोक तथा परलोक को, व्याप्य = सर्वात्मभाव से अधिकृत करके याति=प्रारब्धभोग तक व्यवहार रहता है, तदा=तब उसके लिए, आहुतम्=न किया हुआ, अग्निहोत्रम्=अग्निहोत्रादि, आहुतम्=किया हुआ हो जाता है, तथा=तो फिर, ते=तुम्हारी, ब्राह्मी वृत्ति भी, लघुतां=दासता को, मा=न, अदधीत=प्राप्त करे, यत् = उस ब्रह्म का, नाम= नाम, प्रज्ञानम्=नियामक ज्ञान, स्यात् = है जिसे, धीराः=धीर पुरुष, लभन्ते=प्राप्त करते हैं, तम्=उस, सनातनम्=आदि, भगवन्तम्=प्रभु को, योगिनः = योगी लोग, प्रपश्यन्ति=देख सकते हैं ॥ १७ ॥

सरलार्थः—ज्ञानी पुरुष ब्रह्मविद्या के द्वारा इस लोक और परलोक दोनों को सर्वात्मभाव से अधिकृत करके वहाँ भी आनन्द में समाया रहता है । उस समय उसके द्वारा यदि अग्निहोत्रादि कर्म न भी हुए हों तो भी पूर्ण हुए समझे जाते हैं । तात्पर्य यह है कि जीवन्मुक्त होकर भी साधक अपने प्रारब्ध भोगों को भोगने तक ब्रह्मात्मभाव से ही स्थित हुआ अनासक्त भाव से लोक व्यवहार करता है । अतः हे राजन्, इस ब्रह्म विद्या को प्राप्त करके भी तुम में तुच्छ भावना का उदय न हो तथा इसके द्वारा तुम्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो जिसे धीर पुरुष ही प्राप्त कर पाते हैं । उसी के द्वारा योगी लोग सनातन ब्रह्म का दर्शन करते हैं ॥ १७ ॥

किंच—

एवंरूपो महानात्मा पावकं पुरुषो गिरन् ।
यो वै तं पुरुषं वेद तस्येहात्मा न रिष्यते ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १८ ॥

शा० भा० – एवमिति । य एवंरूपः प्रज्ञानैकरसो ब्रह्मस्वरूपः सन्नास्ते, स आत्मा महान्संपद्यते ब्रह्मैव संपद्यत इत्यर्थः । पावकमग्निं सर्वोपसंहृतिरूपं कारणं सकारणं कार्यं गिरन् स्वात्मन्युपसंहरन् यो वै तं पुरुषं ज्ञानैकरसं पुरुषं पूर्णं पुरिशयं वेद अयमहमस्मीति साक्षाज्जानाति, तस्य प्रज्ञानरूपं परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छतः इहास्मिन्नेव देहे आत्मा न रिष्यते न विनश्यति । विदुष उत्क्रान्तेरसंभवात्, उत्क्रांतिनिमित्तत्वाद्विनाशस्य । तथाच श्रुतिः प्रश्नपूर्वकमुत्क्रांत्यभावं दर्शयति—"उदस्मात्प्राणा उत्क्रामंतीति आहो नेति नेति होवाच याज्ञवल्क्यः, अत्रैव समवलीयंते न तस्य प्राणा उत्क्रामंति ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति य एवं वेद" इति । यं विदित्वा न रिष्यति तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १८ ॥

नील० — एवंरूपो वाङ्मनसातीतो जगज्जन्मादियोनिर्निर्विकारो योगैकगम्यो यज्ज्ञानान्महापूज्यत्वं लभ्यते कर्मलोपदोषश्च नास्ति स एवंरूपः परमात्मा पावकं भोक्तारं जीवं गिरन् आत्मनि संहरन् पुरुषं पूर्णतया वेद तस्य आत्मा न हिंस्यते कर्मफलवज्ज्ञानफलं नानित्यमित्यर्थः । यस्य ज्ञानादात्मनाशो नास्ति त योगिनः पश्यन्ति ॥ १८ ॥

शब्दार्थः—एवंरूपः = इस प्रकार, महानात्मा = सब आत्माओं में व्याप्त हो करके, पावकम् = जीव-भाव को, गिरन् = आत्मसात् करता हुआ, वै = निश्चय रूप से, तम् = उस, पुरुषम् = पुरुष को, वेद = जान लेता है, इह = इस देह में, रिष्यते = नष्ट होता, सनातनम् = आदि, भगवन्तम् = महाप्रभु को, योगिनः = योगीजन, प्रपश्यन्ति = देख सकते हैं ॥ १८ ॥

सरलार्थः—जो पुरुष ज्ञानस्वरूप परब्रह्म को अपनी आत्मा में देख लेता है वह महान् हो जाता है । वह अपने जीव भाव को अपने में विलीन कर लेता है और भोक्ताभाव को त्याग कर पूर्ण परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है । उसका इस संसार में प्रयोग न नष्ट नहीं होता अर्थात् वह कृतकृत्य एवं अमर हो जाता है । उसे अपने अन्तःकरण में विद्यमान पूर्ण पुरुष का बोध हो जाता है । योगी लोग उसी ऐश्वर्यवान सनातन ब्रह्म का साक्षात् दर्शन करते हैं ॥ १८ ॥

यस्मात्तद्विज्ञानादेव नात्मनो विनाशस्तस्मात्—

तस्मात्सदा सत्कृतः स्यान्न मृत्युरमृतं कुतः ।
सत्यानृते सत्यसमानुबन्धिनी सतश्च योनिरसतश्चैक एव ।
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ १९ ॥

शा० भा०—तस्मात्सदेति । सदा सर्वदाऽहर्निशं सत्कृतः स्यात्, सच्चिदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्मनाऽभिमन्येत यः स सदा सत्कृतो भवति । तस्य न मृत्युः जननमरणलक्षणः संसारो न भवेत् । अमृतं कुतः मृत्युसापेक्षत्वादमृतस्य तदभावे कुतः प्रसक्तिः । तथाच श्रुतिः—"मृत्युर्नास्त्यमृतं कुतः" इति । सत्यानृते च वर्तेते सत्यसमानुबंधिनी परमार्थसत्यमेकमधिष्ठानमनुबध्य वर्तेत रज्वामिव सर्पः । कथमेतदवगम्यते सत्यानृते सत्यसमानुबधिनीति ? तत्राह—सतश्च लौकिकस्य योनिः कारणम् असतश्च व्यावहारिकस्य रजतादेः एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म यस्मात्प्रवदंति तस्मात्सत्यानृते स्वकारणभूतसत्यसमानुबंधिनीति । यदात्मतत्त्वज्ञानकारणात् मृत्योर्विनाशः, यमनुबध्य सत्यानृते वर्तेते तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ १९ ॥

नील०—एवं सर्वकर्मास्पर्शिनां योगिनामपि दुःसंगत्यागमावश्यकतयोक्त्वा जीवन्मुक्तानां तेषामनुभवमनुवदति-सदेति । सदा कालत्रयेपि सत्कृतः ब्रह्मतादात्म्याध्यासेन तद्वत्कृतः सुखदुःखजरामरणादिरहितः कृतः अत एव देहवियोगरूपो मृत्युरपि नास्ति । नापि अमृत्युस्तद्विरोधी जन्मलाभः जन्ममरणप्रवाहरूपस्य मृत्युसंज्ञितस्य बन्धस्याभावात् । अमृतं मोक्षोऽपि कुतः न कुतश्चिदित्यर्थः । तत्र हेतुः सत्यं घटादि अनृतं रज्जूरगादि ते उभे अपि सत्यसमानवन्धे सत्यं अवाधितं समानं सर्वदा सर्वदेशेषु चैकरूपं ब्रह्म तदेव बन्धो निग्रहस्थानं ययोस्ते तथा सर्वं जगद् ब्रह्माधीनमित्यर्थः । सतः कार्यस्य असतः कारणस्य च योनिः उत्पत्तिप्रलयस्थानं एकमेव तं योगिनः पश्यन्ति । तथाच श्रुतिः "न निरोधो नचोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः । न मुमुक्षुर्नवै मुक्त इत्येषा परमार्थता" इति सृष्ट्यादिकं सर्वं मय्येव कल्पितमित्याह ॥ १९ ॥

शब्दार्थः—तस्मात् = इसलिए, सदा = सर्वदा, सत्कृतः = सत् से युक्त, स्यात् = रहे तो, न = न, मृत्युः = मृत्यु हैं, कुतः = फिर कहाँ से, अमृतम् = अमृत की अपेक्षा होती क्योंकि, सत्यानृते = सत्य और अनृत, सत्यसमानुबन्धिनी = सत्यरूप ब्रह्म पर, अधिष्ठित हैं, च = और, सतः = सत् का, योनिः = कारण, च = और, असतः = असत् का भी कारण, एक एव = एक ब्रह्म ही है ॥ १९ ॥

सरलार्थः—इस प्रकार साधक नित्य ही एक अद्वितीय सच्चिदानन्द परब्रह्म में ही तादात्म्य भाव से अवस्थित रहे । उससे सत्कृत हुए जीवन्मुक्त के लिए जैसे

जन्म-मरण रूप संसार ही न होगा वैसे ही अमृत स्वरूप मोक्ष भी नहीं अर्थात् इन दोनों की अपेक्षा से रहित ही जीवन्मुक्त हुआ करता है। सत्य और असत्य की कल्पना एक सत्यस्वरूप परमात्मा के अधिष्ठानभूत होने से है, वह कल्पना वैसी ही है जैसे कि रज्जु में सर्प की प्रतीति। तात्पर्य यह है कि जैसे सर्प की सत्ता और असत्ता का एक ही आधार रज्जु है उसी प्रकार संसार की सत्ता एवं असत्ता एक ही परमार्थ सत्ता पर आधारित है। अतः त्रिकालातीत उस सनातन परमेश्वर को योगी लोग ही जानते हैं ॥ १९ ॥

अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा न दृश्यतेऽसौ हृदये निविष्टः।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितश्च स तं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः ॥२०॥

शा० भा०—अंगुष्ठमात्र इति।

आकाशादिदेहांतं जगत् सृष्ट्वा हृदये निविष्टः अजः चरः चराचरात्मा सन्न दृश्यते स्वेनात्मना चित्सदानंदाद्वितीयेन। तम् अहोरात्रम् अतंद्रितो भूत्वाऽन्नादिकोश-पंचकेभ्यो निष्क्रम्य सर्वांतरात्मानं मत्वा कविरास्ते प्रसन्नः कृतार्थः सन्नित्यर्थः ॥ २० ॥

नील०—अंगुष्ठेति। उपाधितोऽल्पपरिमाणोऽपि स्वतो महात्मा व्यापकः न दृश्यते रूपादिहीनत्वात्। अजो जन्मादिशून्यः दिवारात्रं चरतीति चरः जगन्नियमने नित्योद्युक्त इत्यर्थः। सः अधिकारी तं आत्मानं मत्वा ज्ञात्वा कविः क्रांतदर्शी आस्ते कर्मभ्य उपरतो भवति कृतकृत्यत्वात्। अत एव प्रसन्नः उपाधिकृतकालुष्यस्यागान्निर्मलः ॥ २० ॥

शब्दार्थः—असौ = वह, अङ्गुष्ठमात्रः = अङ्गुष्ठ मात्र, अन्तरात्मा = अन्तर्यामी, पुरुषः = पुरुष, हृदये = हृदय में, निविष्टः = रहता हुआ भी, न दृश्यते = नहीं दीखता, च = और, अजः = वह अजन्मा होते हुए भी, चरः = विश्व रूप है, च = और, स = साधक, दिवारात्रम् = रात-दिन, अतन्द्रितः = सावधान होकर, तम् = उसे, मत्वा = सर्वान्तरात्मा मान कर, कविः = तत्त्वदर्शी, प्रसन्नः = कृतकृत्य, आस्ते=हो जाता है ॥ २० ॥

सरलार्थः—वह अङ्गुष्ठ मात्र अन्तर्यामी परमात्मा सबके हृदय के भीतर स्थित है किन्तु वह रूपादि से रहित होने के कारण किसी को दिखाई नहीं पड़ता। वह अजन्मा, चराचर स्वरूप एवं अतन्द्रित है। ज्ञानी पुरुष उस परमात्मा को जानकर परमानन्द में लीन हो जाता है ॥ २० ॥

ब्रह्मणो विश्वोपादानत्वमाह—

तस्माच्च वायुरायातस्तस्मिंश्च प्रलयस्तथा।
तस्मादग्निश्च सोमश्च तस्माच्च प्राण आगतः ॥२१॥

तत्प्रतिष्ठा तदमृतं लोकास्तद्ब्रह्म तद्यशः ।
भूतानि जज्ञिरे तस्मात्प्रलयं यान्ति तत्र च ॥२२॥

शा० भा०—तस्माच्चेतिद्वाभ्याम् । श्लोकौ स्पष्टौ ॥ २१ ॥ २२ ॥

नील०—तस्मात्पूर्णात् वायुरिति पञ्चानामपि भूतानामुपलक्षणं । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः आकाशाद्वायुः वायोरग्निः अग्नेरापः अद्भ्यः पृथिवीति तत एव सर्वभूतोद्भवश्रुतेः । अग्निर्भोक्ता सोमो भोज्यं प्राण इति देहेन्द्रियादिसंघातग्रहणम् ॥ २१ ॥

नील०— इदं सर्वं तत एव आगतं तस्माज्जातं तत् आत्मत्वेन प्रसिद्धं तत् तच्छब्दवाच्यं तदिति वा एतस्य महतो भूतस्य नाम भवतीति श्रुतिप्रसिद्धेः । वक्तु नशक्नुमः वाचामगोचरं तं योगिनः पश्यन्ति ॥ २२ ॥

शब्दार्थः—तस्मात् = उसी से, आगतः = प्रकट होता है, च तथा = और उसी प्रकार, तस्मिन् = उसी में, प्रलयः = लीन हो जाता है, सोमः = चन्द्रमा प्रकट होते हैं, प्राणः = प्राण भी, आगतः = उत्पन्न होता है, तत् = वह परमात्मा सम्पूर्ण जगत् का, प्रतिष्ठा = आधार है, अमृतम् = अमृत है, ब्रह्म = ब्रह्म, लोकाः = सब लोकों का आश्रय, यशः = प्रशंसा के लायक, भूतानि = सब जीव, जज्ञिरे = उत्पन्न होते हैं, तत्र = उसी में, प्रलयं = प्रलय को भी, यान्ति = प्राप्त करते हैं ॥ २१ ॥ २२ ॥

सरलार्थः— उस पूर्ण परमात्मा से ही वायु आदि पांच भूत उत्पन्न हुए हैं और अन्त में वे सब उसी में लीन हो जाते हैं । अर्थात् जैसे घट अपने अधिष्ठान भूत मृत्तिका में ही लीन हो जाता है उसी प्रकार सम्पूर्ण कार्यवर्ग अपने अधिष्ठान ब्रह्म में ही विलीन हो जाता है । उसीसे अग्नि, चन्द्र और प्राण भी उत्पन्न हुआ है । वही परमात्मा सबका आधार है, वही अमृतस्वरूप है, वही सम्पूर्ण लोकों का आश्रय है । वह यश स्वरूप है । उसीसे समस्त भूतों की उत्पत्ति होती है और अन्त में सब कुछ उसी में ही लय हो जाता है ॥ २१ ॥ २२ ॥

सर्वमिदं ब्रह्मणः सकाशादुद्भुतं तत्रैव लीयत इत्युक्तं तदेव विवृणोति—

उभौ च देवौ पृथिवीं दिवं च दिशश्च शुक्लं भुवनं बिभर्ति ।
तस्माद्दिशः सरितश्च स्रवन्ति तस्मात्समुद्रा विहिता महान्तः ॥२३॥

शा० भा० उभाविति । देवौ जीवेश्वरौ शुक्लं ब्रह्म कर्तृ बिभर्ति । तस्माद् ब्रह्मणः सकाशाद्दिश उत्पद्यंते "एतस्यैवाक्षरस्य प्रशासने गार्गि सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः" इति श्रुतेरर्थः प्रतिपादितः ॥ २३ ॥

नील०— एतदेवाह—उभाविति । देवौ जीवेश्वरौ पृथिव्यादिकं भुवनं ब्रह्माण्ड शुक्लो बिभर्ति । तस्मात्सर्वोत्पत्तिमाह—यस्मादिति । महान् दुरधिगमोऽन्तो येषां ते महान्तः समुद्राः कामाः कामं समुद्रमाविशेति मन्त्रलिङ्गात् ॥ २३ ॥

शब्दार्थः—शुक्रम् = शुद्ध ब्रह्म ही, उभौ=दोनों, देवौ=देवों को, च=और, पृथिवीं=पृथ्वी, च=और, दिवम्=दिव लोक, दिशः=दिशाओं, च=और, भुवनम्=भुवनों को, बिभर्ति=धारण-पोषण करता है, तस्मात्=उसी से, दिशः=उप दिशाएँ, च=और, सरितः=नदियाँ स्रवन्ति=प्रवाहित होती हैं, तस्मात्=उसी से, महान्तः=विशाल, समुद्र=समुद्र, वेहिताः = रचित हुए हैं ॥ २३ ॥

सरलार्थः — वही एक परमात्मा पृथ्वी एवं स्वर्ग दोनों का ही अधिष्ठाता है, वही देवों, दिशाओं और भुवनों का धारण-पोषण करता है। अर्थात् उसमें रहने वाले सभी जीव उसी से ही वृद्धि को प्राप्त होते हैं। उसी परब्रह्म से अन्य सब दिशायें अर्थात् स्थान एवं नदियाँ प्रवाहित होती हैं और महान समुद्र भी उसी की शक्ति से ही विराजमान है ॥ २३ ॥

इदानीं ब्रह्मणोऽनन्तत्वं कथयति—

यः सहस्रं सहस्राणां पक्षानाहृत्य सम्पतेत् ।
नान्तं गच्छेत्कारणस्य यद्यपि स्यान्मनोजवः ॥
योगिनस्तं प्रपश्यन्ति भगवन्तं सनातनम् ॥ २४ ॥

शा० भा०—यः सहस्रमिति । यः पुरुषः सहस्राणां सहस्रं पक्षानाहृत्यात्मनः पक्षान्कृत्वा संपतेत् अनेकशः कोटिकल्पमपि पुरुषो नांतं गच्छेत्सर्वकारणस्य परमात्मनः, यद्यप्यसौ मनोजवस्तथापि तस्यांतं न गच्छेत् । यस्मादन्तं न गच्छन्ति तस्मादनन्तः परमात्मेत्यर्थः । यः अनन्तः परमात्मा तं योगिन एव पश्यन्ति ॥ २४ ॥

नील०—न केवलं मोक्ष एव ज्ञानतः स्यात्, अपितु सर्वं दूरस्थमपि आत्मन्यन्तर्भूतमेवास्तीत्याह—य इति । दशलक्षाणि अनन्तान् वा पक्षान् कृत्वा यो दूरे गच्छेत्सोपि कारणस्य अन्तं न गच्छेत् तं योगिनः पश्यन्तीत्यर्थः । एतच्चातीतानागतादेरप्युपलक्षणम् । तथा च हार्दाकाशं प्रकृत्य श्रूयते यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदत्र गत्वा विन्दत इति यत्र दूरस्थोऽप्यस्ति तं योगिनः पश्यन्ति ॥ २४ ॥

शब्दार्थः—यः = चाहे जो भी व्यक्ति, सहस्राणाम्=हजारों पक्षियों के, सहस्रम्=हजारों पक्षों=पंखों को, आहृत्य=धारण करके, सम्पतेत्=उड़ान भरे किन्तु, कारणस्य=सृष्टि के कारण का, अन्तम् = अन्त, न=नहीं, गच्छेत्=लगा सकता, यद्यपि=चाहे, मनोजवः=मनोवेगनगामी ही क्यों न, स्यात्=हो, सनातनम्=अनादि, तं भगवन्तम्=उस, सृष्टि के मूल कारण परमात्म तत्त्व को, योगिनः=योगी जन, प्रपश्यन्ति=देख पाते हैं ॥ २४ ॥

सरलार्थः—कोई भी व्यक्ति हजारों पक्षियों के पंखों को धारण कर मन के समान गतियुक्त होकर उड़ता रहे किन्तु वह सृष्टि के कारण का पता नहीं लगा सकता।

अथवा उसका अन्त नहीं पा सकता। क्योंकि ब्रह्म अनन्त है, सर्वव्यापक है अतः उसकी सृष्टि का भी कोई अन्त नहीं। इसलिए अन्त में अपने हृदय स्थित परमात्मा के समीप ही आना पड़ता है। सृष्टि के आदि कारण उस परमात्मा का दर्शन योग्य जन ही कर पाते हैं॥ २४॥

किंच--

अदर्शने तिष्ठति रूपमस्य पश्यन्ति चैनं सुसमिद्धसत्त्वाः।
हीनो मनीषी मनसाऽभिपश्येद्य-एनं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥२५॥

शा० भा०—अदर्शने इति। अदर्शने दर्शनायोग्यविषये तिष्ठति रूपमस्य परमात्मनः। तथा श्रुतिः—"न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य" इति। पश्यन्ति चैनं सुसमिद्धसत्त्वाः यद्यपि दर्शनायोग्ये तिष्ठति तथापि परमात्मानं पश्यन्ति, के ते? सुसमिद्धसत्त्वाः सुष्ठु समिद्धं सम्यग्दीप्तं सत्त्वमंतःकरणं यज्ञादिभिर्विमलीकरण-संस्कारेण येषां ते सुसमिद्धसत्त्वाः। यस्मादेवं तस्माद्धीनो रागद्वेषादिमलरहितो विशुद्धसत्त्वो मनीषी मनसाऽभिपश्येत्। य एनं परमात्मानं विदुरहमस्मीति अमृता अमरणधर्माणस्ते भवंति॥ २५॥

नील०—एवंविधस्यात्मनो दर्शनार्थं योगानुगुणानि साधनान्तराण्याह अदर्शने इति। चक्षुराद्यग्राह्यं एनं शुद्धचित्ता एव चित्तेन गृह्णतीति। पूर्वार्धार्थः। किञ्च यदायं हीनो रागद्वेषादिहीनो मनीषी मनोनिग्रहशीलश्च भवति तदैव चित्तशुद्धिर्जातेति ज्ञेयम्। एनं विदुः जानाति ते अमृता भवन्तीति॥ २५॥

शब्दार्थः—अस्य=इस परमात्मा का, रूपम्=रूप, अदर्शने=दृश्य के परे, तिष्ठति=स्थित है, च=किन्तु, सुसमिद्धसत्त्वाः=दिव्य हृदयवाले, एनम्=इसको, पश्यन्ति=देखते हैं अतः, हीनः=दोष से रहित, मनीषी=मन पर अधिकार करनेवाले, मनसा=निर्मल मन से, अभिपश्येत्=देख सकते हैं, च=और, यः=जो, एनम्=इसको विदुः=जान लेते हैं, ते=वे, अमृताः=अमर, भवन्ति=हो जाते हैं॥ २५॥

सरलार्थः—वह अनिर्वचनीय ब्रह्म का स्वरूप सबके द्वारा प्रत्यक्ष नहीं हो पाता। वह रूपादि विशेष चिह्नों से रहित है किन्तु जो दिव्य हृदयवाले अर्थात् विशुद्ध अन्तःकरण से युक्त है वे ही उसे देख सकते हैं। जो समस्त दोषों से युक्त, निष्कामी एवं मनीषी हैं वे अपने विशुद्ध मन के द्वारा उसका दर्शन कर लेते हैं और जो उस परमात्म तत्त्व को जान लेते हैं वे अमर पद को पा लेते हैं॥ २५॥

इमं यः सर्वभूतेषु आत्मानमनुपश्यति।
अन्यत्रान्यत्र युक्तेषु स किं शोचेत्ततः परम्॥२६॥

शा० भा० – इममिति। इमं सर्वान्तरं सर्वभूतेषु सर्वप्राणिषु आत्मानं योऽनुपश्यति अन्यत्रान्यत्र देहेन्द्रियादियुक्तेषु शरीराद्यभिमानिषु, स किं शोचेत्ततः परं सर्वभूतेषु स्वात्मानं पश्यन् ततः परं किमर्थमनुशोचति सर्वभूतस्थमात्मानम् अनुपश्यन् कृतार्थत्वात् नानुशोचतीत्यर्थः। तथाच श्रुतिः—'तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" ॥ २६ ॥

नील०— यः सर्वभूतेषु सद्रूपेण अनुस्यूतमात्मानं ईश्वरमनुपश्यति ध्यानेन साक्षात्करोति सः अन्यत्र दारादौ अन्यत्र कर्मादौ युक्तेषु पुरुषांतरेषु सत्सु किं शोचति नैव शोचति किन्तु त एव शोचन्तीत्यर्थः ॥ २६ ॥

शब्दार्थः— यः=पुरुष, अन्यत्रान्यत्र=आत्मा के पृथक् शरीरादि से, युक्तेषु= युक्त, सर्वभूतेषु=सब देहधारियों में, इमम्=इस अहं के द्वारा प्रतीत होने वाला, आत्मानम्=एक ही परमात्मा को, अनुपश्यति=दर्शन करता है, ततः=उससे, परम्= उत्तम प्रिय, किम्=किस वस्तु की, शोचेत्=चिन्ता करे ॥ २६ ॥

सरलार्थः जो विद्वान् सम्पूर्ण भूतों मे अन्तर्यामी रूप से विराजमान परमात्मा का साक्षात् दर्शन कर लेता है अर्थात् आत्मस्थ परब्रह्म को ज्ञान-वैराग्यादपूर्वक जान लेता है, क्या वह परमात्मा से भिन्न पुत्र-कलत्र, देहेन्द्रियादि में वर्तमान अज्ञानी के समान शोक प्राप्त करता है? तात्पर्य यह है कि ब्रह्मभाव को प्राप्त हो जाने पर विषयानुराग से अलिप्त होने के कारण उसे शोक और मोह कुछ भी नहीं सताते। वह एकमात्र ब्रह्म में ही लीन रहता है। श्रुति कहती है—'तत्र को मोहः कः शोकः एकत्वमनुपश्यतः' ॥ २६ ॥

तदेवाह—

यथोदपानं महति सर्वतः संप्लुतोदके।
एवं सर्वेषु भूतेषु ब्राह्मणस्य विजानतः ॥२७॥

शा० भा०—यथेति। यथा सर्वतः संप्लुतोदके उदपाने महति कृतकृत्यस्य पुन्सोऽल्पे उदपानेऽर्थो नास्ति, एवं सर्वेषु भूतेषु आत्मानं विजानतः ब्राह्मणस्य किंचिदपि प्रयोजनं न विद्यत इत्यर्थ। आत्मदर्शनेनैव कृतार्थत्वादिति भावः। तथाचाह भगवान्वासुदेवः "न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्ययपाश्रयः" इति ॥२७॥

नील० — उदकं पीयतेऽस्मिन्नित्युदपाने कासारादौ तृषार्त्तस्य यावता जलेन स्नानपानादिसिद्धिस्तावतैव सर्वेषु वेदेषु आत्मज्ञस्य ध्यायिन इष्टसिद्धिः अतो ग्रन्थभारवहनं वृथैव किन्तु तदन्तर्गतं स्वोपयुक्त सारमात्रं गुरुवाक्याद् गृहीत्वा योगेन कृतकृत्यो भवेदित्यर्थः ॥ २७ ॥

शब्दार्थः—यथा=जिस प्रकार पिपासु लोग, सर्वतः=सब तरह से, सम्प्लुतोदके= जल से भरे-पूरे, महति = महान्, उदपाने = जलाशय में पहुँचकर सन्तुष्ट हो जाते

हैं। एवम् = उसी तरह, सर्वेषु = सभी, भूतेषु = प्राणियों में आत्मा का, विजानतः = दर्शन करने वाले, ब्राह्मणस्य = ब्रह्मवेत्ता को कोई आवश्यकता नहीं रह जाती ॥२७॥

सरलार्थः —जैसे सब ओर से परिपूर्ण महान् जलाशय के प्राप्त हो जाने पर जल के लिए अन्यत्र जाने की आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार आत्मज्ञानी ब्रह्मवेत्ता विद्वान् के लिए भी जानने योग्य कुछ भी शेष नहीं रह जाता। इसके लिए इस संसार में कोई प्रयोजन नहीं रह जाता ॥ २७ ॥

इदानीमुक्तस्यार्थस्य द्रढिम्ने वामदेवादिवत् स्वानुभवं दर्शयति–

अहमेवास्मि वो माता पिता पुत्रोऽस्म्यहं पुनः ।
आत्माऽहमस्य सर्वस्य यच्च नास्ति यदस्ति च ॥ २८ ॥

शा० भा०—हे धृतराष्ट्र ! अहमेवास्मि वो युष्माकं माता जनयित्री पिता अपि अहमेव। युष्माकं पुत्रो दुर्योधनादिरहमस्मि। किंबहुना ? आत्मा अहमस्मि सर्वस्य प्राणिजातस्य यच्च नास्ति यदस्ति च तस्याहमेवात्मा ॥ २८ ॥

नील०—अथेदानीं ब्रह्मविदात्मनो ब्रह्मभावं वामदेववदङ्गीकुर्वन् स्वस्य सार्वात्म्यं स्तौति–अहमेवेति। नास्ति अतीतानागतं अस्ति वर्त्तमानं सर्वेषामन्तरात्मा चाहमेवास्मि ॥ २८ ॥

शब्दार्थः—अहम् = मैं, वः = तुम्हारी माता, अस्मि = हूँ, सर्वस्य = सबकी, आत्मा = आत्मा हूँ, च = और, यत् = जो, न = नहीं, अस्ति है ॥ २८ ॥

एवं तावदाधिभौतिकं पित्रादिकं दर्शितम्। अथेदानीं आधिदैविकं पित्रादि भावं दर्शयति—

पितामहोऽस्मि स्थविरः पिता पुत्रश्च भारत ।
ममैव यूयमात्मस्था न मे यूयं न चाप्यहम् ॥ २९ ॥

शा० भा०—पितामह इति। पितामहोऽस्मि स्थविरः वृद्धः इन्द्रादेः पितामहोऽस्मि अनादिसिद्धः परमात्मा सोऽप्यहमेव यः पिता इन्द्रादेः हिरण्यगर्भः सोऽप्यहमेव तथा। मम यूयम् आत्मस्थाः एवं यूयं सर्वे परमार्थतो न मे आत्मनि व्यवस्थिताः, न चाप्यहं युष्मासु स्थितः। तथा चाह भगवान् "मत्स्थानि सर्वभूतानि" इति ॥ २९ ॥

नील०—पितामह इति। एवमात्मनि सर्वमारोप्य अपवदति न मे यूयं न चाप्यहमिति। यद्यपि रज्ज्वामुरग आरोपितस्तथापि तयोर्न कश्चित्सम्बन्धोऽस्ति अधिष्ठानव्यतिरेकेणाध्यस्तस्यासत्त्वात्। एवं प्रत्यगात्मजगतोरप्यसम्बन्धो द्रष्टव्यः ॥ २९ ॥

शब्दार्थ—भारत=राजन्, स्थविरः = वृद्ध, पितामहः = पितामह, च = और, पिता = सबका पिता, और, पुत्रः=पुत्र हूँ, मम=मेरे, एव = ही. यूयं=तुम लोग, आत्मस्थाः=आत्मस्थित हो, परन्तु वस्तुतः, न=न तो. मे = मेरे में, यूयम्=तुम लोग हो, च=और, नापि = न तो, अहम् = मैं ही तुम लोगों में हूँ ॥ २६ ॥

सरलार्थः—शोकाग्रस्त धृतराष्ट्र को भगवान सनत्सुजात ने कहा – राजन्, तुम शोक मत करो, पिता-पुत्र का यह सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, वस्तुतः आत्मा अकल्पनीय है। आत्मस्वरूप मैं ही सबकी माता और पिता हूँ। मैं ही पुत्र हूँ, मैं ही सबकी आत्मा हूँ, जो कुछ इस पृथ्वी पर विद्यमान है तथा जो कुछ नहीं भी है, वह भी मैं ही हूँ अर्थात् भूत, भविष्यत्, वर्त्तमान जो कुछ भी है वह मुझ में ही विद्यमान है। हे राजन्, मैं ही आपका वृद्ध पितामह, पिता एवं पुत्र हूँ। हे भारत, तुम सब लोग मेरी ही आत्मा में स्थित हो, परन्तु वास्तविक रूप में न तुम मेरे हो और न मैं तुम्हारा हूँ। वस्तुतः आत्मा से पृथक् किसी की सत्ता नहीं है। भेद व्यवहार के कारण ही ये सम्बन्ध माने जाते हैं ।। २८ ॥ २६ ॥

आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः।
अजश्चरो दिवारात्रमतंद्रितोऽहं मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ॥३०॥

शा० भा०--यद्यपि न ममात्मनि यूयं व्यवस्थिताः, न चाप्यहं युष्मासु स्थितः, तथापि आत्मैव स्थानम् आत्मैवाश्रयः जन्म चात्मा अस्मादेवात्मनः ओतप्रोतः अहमेव सर्वमुत्पन्नम्। तथाच श्रुतिः--"आत्मन एवेदं सर्वम्" इति। ओतप्रोतः अहमेव ओतप्रोतरूपेण व्यवस्थितः जगदात्मा युष्माकं जनयिता अजरप्रतिष्ठः अजरे जरामरणवर्जिते स्वे महिम्नि तिष्ठामीत्यजरप्रतिष्ठः। तथाच श्रुतिः "स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि" इति ॥ ३० ॥

नील०—अहमेव मुमुक्षूणां ज्ञेय इत्याह-आत्मैवेति। मम स्थान अधिष्ठानं आत्मैव स्वे महिम्नि प्रतिष्ठित इति श्रुतेः। अत एव मम जन्म जननहेतुरपि आत्मैव अजत्वादेव अह कार्ये ओतः प्रोतश्च तिर्यगूर्ध्वं च पटे तन्तव इवानुस्यूतोऽस्मि अजरा अप्रच्युतस्वभावा प्रतिष्ठा अधिष्ठानत्वं यस्य स तथा अजश्चर इति पादो व्याख्यातः। मां सर्वेषां भूतानामन्तरात्मानं सर्वेश्वरं सर्वकर्तारं विज्ञाय कविः प्रसन्न आस्ते ॥३०॥

शब्दार्थः--मम = मेरा, स्थान = स्थान, एव = ही, आत्मा = आत्मा है, च = और, जन्म = जन्म भी, आत्मा = आत्मा है, अहं = मैं. ओत-प्रोतः = सब में व्याप्त हूँ, अजरप्रतिष्ठः = जरा-मरण रहित हूँ अहं=मैं, दिवारात्रम्=दिन-रात, अतन्द्रितः= चैतन्य होता हुआ, अजः=अज और, चरः=गमनशील हूँ, मां=मुझको, विज्ञाय= जानकर ही, कविः=विद्वान् जन, प्रसन्नः=कृतकृत्य होकर, आस्ते=सर्वदा के लिए स्थिर हो जाते हैं ॥ ३० ॥

सरलार्थः—हे राजन्, आत्मा ही मेरा निवास स्थान है और आत्मा ही मेरा जन्म अर्थात् उत्पत्ति है। मैं जरा-मरण शून्य महिमा में अवस्थित हूँ। मैं ही अजन्मा, चराचर स्वरूप हूँ तथा दिन-रात जाग्रत रहने वाला हूँ। मुझे जानकर ज्ञानी पुरुष परमानन्द में मग्न हो जाते हैं ॥ ३० ॥

अणोरणीयान् सुमनाः सर्वभूतेष्ववस्थितः।
पितरं सर्वभूतानां पुष्करे निहितं विदुः ॥ ३१ ॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैय्यासिक्या-
मुद्योगपर्वणिके धृतराष्ट्रसनत्कुमारसंवादे श्रीसनत्सु-
जातीये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

शा० भा०—अणोरिति—

अणोः सूक्ष्मात् अणीयान् सूक्ष्मतरः सुमनाः शोभनं रागद्वेषादिमात्सर्यशोक-मोहादिधर्मवर्जितं केवलं चित्सदानन्दाद्वितीयब्रह्मात्माकारं मनो यस्य स सुमनाः सर्वभूतेषु सर्वप्राणिषु हृदयकमलमध्ये अहमेवावस्थितः सर्वभूतात्मतया।

एवं तावत्स्वानुभवो दर्शितः, इदानीं न केवलमस्मदनुभव एवात्र प्रमाणम्, अन्येऽप्येवमेवावगच्छन्तीत्याह। येऽन्ये सनकसनन्दनसनातनवामदेवादयो ब्रह्म-विदस्तेऽपि पितरं सर्वभूतानां सर्वप्राणिनां पिता जनयिता परमेश्वरो यस्तं पुष्करे हृत्पुण्डरीकमध्ये निहितं विदुः परमात्मानमात्मत्वेनावगच्छन्तीत्यर्थः। तथाच श्रुतिः तेषामनुभवं दर्शयति—"तद्धैतत्पश्यन् ऋषिर्वामदेवः प्रतिपेदे अहं मनुरभवं सूर्यश्च" इति बृहदारण्यके। "एतत्सामगायन्नास्ते" इति तैत्तिरीयके सामगानेन स्वानुभवो दर्शितः, आत्मनः कृतार्थत्वद्योतनार्थम्। तथा छान्दोग्येऽपि—"तद्धास्य विजज्ञौ" इति। तलवकारेच "अहमन्नम्" इत्यादिना विदुष अनुभवो दर्शितः ॥ ३१ ॥ तत्रैते श्लोका भवन्ति—

नित्यशुद्धबुद्धमुक्तभावमीशमात्मना
भावयन् षडिन्द्रियाणि सन्नियम्य निश्चलः।
अस्ति वस्तु चिद्घनं जगत्प्रसूतिकारणं
न नश्वरं तदुद्भवं जगत्तमोनुदं च यत् ॥
तत्पदैकवाचकं सदामृतं निरञ्जनम्
चित्तवृत्तिदृक् सुखं तदस्म्यहं तदस्म्यहम् ॥ १ ॥ इति ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यश्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीशंकरभगवतः कृतौ सनत्सुजातभाष्ये चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४ ॥

नील०—प्रकरणार्थमुपसंहरति—अणोरिति। अणोरप्यणुतरो दुर्लक्ष्यः न त्वणुतर-परिमाणवान् अस्थूलमनण्वह्रस्वमदीर्घमिति ब्रह्मणि चतुर्विधपरिमाणनिषेधात्। एतेन निर्गुणं रूपमुक्तं। सुमनाः शोभनं मनो दिव्य चक्षुर्मायाख्यं अतीतादिसर्वप्रकाशकं यस्य मनोऽस्य दैवं चक्षुरिति श्रुतेः। स सुमनाः एतेन सगुणं रूपमुक्तं सर्वभूतेषु अव-स्थितः अन्तर्यामिरूपेण स्थितः पितरं अर्थाद्वियदादीनां जरायुजादीनां च सर्वभूतानां पुष्करे हृदयपुण्डरीके निहितं स्थित विदुर्ब्राह्मणा जानन्ति। एवं गुणविशिष्टं प्रत्यगा-त्मानं हृदये विचिन्तनेन साक्षात्कृत्य कृतकृत्यो भवतीत्यर्थः॥ ३१॥

इति श्रीमच्चतुर्धरवंशावतंसश्रीगोविन्दसूरिसूनोः श्रीनीलकंठस्य कृतौ उद्योगपर्वणि भारतभावदीपे सनत्सुजातीयटीकायां चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

शब्दार्थः—अणोः=सूक्ष्म से, अणीयान्=सूक्ष्म, सुमनाः=शुद्ध रूप से, सर्व-भूतेषु=सब प्राणियों में, अवस्थितः=स्थित हूँ, एवम्=इस प्रकार, सर्वभूतानाम्=सब प्राणियों के, पुष्करे=हृदय-कमल के मध्य में, निहितम्=स्थित, पितरम्=सर्व रक्षक को, विदुः=ब्रह्मविद् लोग आत्म-भाव से ही साक्षात्कार करते हैं॥ ३१॥

सरलार्थः—वही परमात्म स्वरूप मैं सूक्ष्म से भी सूक्ष्म तथा विशुद्ध मनवाला हूँ, अर्थात् राग-द्वेष, शोक-मोहादि धर्मों से रहित हूँ। मैं ही निर्गुण एवं सगुण रूप हूँ। मैं ही समस्त प्राणियों के हृदय कमल में विराजमान हूँ। केवल मैं ही नहीं, प्रत्युत सभी ऋषिगण समस्त प्राणियों के हृदय कमल के मध्य स्थित सबके रक्षक परमात्मा को इसी प्रकार जानते हैं। इस प्रकार आत्मस्थ परब्रह्म को पाकर साधक कृतकृत्य हो जाता है।

इति सनत्सुजातीयदर्शने 'प्रज्ञा' हिन्दी-व्याख्यायां चतुर्थोऽध्यायः॥ ४॥

आचार्य द्वितीयवर्षे

पुराणेतिहासविषये-प्रथमपत्रम्

सनत्सुजातीये प्रश्नाः—

१. वक्ष्यमाणेषु द्वयोरेव शाङ्करभाष्यदिशा ससन्दर्भं व्याख्यानं विधत्त ।

(क) य एतद्वा भगवान्स नित्यो विकारयोगेन करोति विश्वम् ।
तथा तच्छक्तिरिति स्म मन्यते तदर्थयोगे च भवन्ति वेदाः ॥

उत्तर—प्रथम अध्याय श्लोक—२१ में शांकरभाष्य देखिये—

(ख) न छन्दांसि वृजिन तारयन्ति मायाविनं मायया वर्त्तमानम् ।
छन्दास्येनं प्रजहत्यन्तकाले नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः ॥

उत्तर—अ० २, श्लोक ५ पर शा० भा० देखिये—

(ग) आचार्याय प्रियं कुर्यात्प्राणैरपि धनैरपि ।
कर्मणा मनसा वाचा चतुर्थः पाद उच्यते ॥ १२

उत्तर—अ० ३, श्लोक १२ पर शा० भा० देखिये—

२. मदस्य कति दोषाः, के च ते ? इति ग्रन्थोक्तदिशा सविस्तरं वर्णयत । ८

उत्तर—अ० २, श्लोक २४ पर शा० भा० देखिये—

सनत्सुजातीये प्रश्नाः— १५

१. वक्ष्यमाणेषु द्वयोरेव शाङ्करभाष्य-सम्मतं व्याख्यानं विधेयम्—

(क) तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां मिथ्यार्थयोगेऽस्य गतिर्हि नित्या ।
मिथ्यार्थयोगाभिहतान्तरात्मा स्मरन्नुपास्ते विषयान् समन्तात् ॥

उत्तर—अध्याय १, श्लोक १० पर शा० भा० देखिये—

(ख) आकाङ्क्षार्थस्य संयोगाद् रसभेदार्थिनामिव ।
एवं ह्येतत् समाज्ञाय तादृग्भावं गता इमे ॥

उत्तर—अध्याय ३, श्लोक १७ पर शा० भा० देखिये—

(ग) आत्मैव स्थानं मम जन्म चात्मा ओतप्रोतोऽहमजरप्रतिष्ठः ।
अजश्चरो दिवारात्रमतन्द्रितोऽहं मां विज्ञाय कविरास्ते प्रसन्नः ॥

उत्तर—अध्याय ४, श्लोक ३० पर शा० भा० देखिये—

२. दमस्य कति दोषा ? के च ते ? स्वाधीतग्रन्थमनुसृत्य समाधेयम् ।

उत्तर—अध्याय २, श्लोक २१ पर शा० भा० देखिये—

सनत्सुजातीयश्लोकानुक्रमणिका

सनत्सुजातीयश्लोकानुक्रमणिका

नवीन प्रकाशित दुर्लभ ग्रं

१. श्रीमद्भगवद्गीता (गीता) मधुसूदन सरस्वती कृ
सनातन देव कृत हिन्दी टीका (१९८२) राज
काउ

२ नामलिङ्गानुशासनम् नाम अमरकोशः (कोश
भानुजी दीक्षित (रामाश्रय) कृत 'रामाश्रमी' (
टीका तथा हरगोविन्दशास्त्री कृत 'मणिप्रभा' (प्र
राज संस्करण २५०-०० का

३ काव्यप्रदीपः । म० म० श्रीगोविन्दप्रणीतः ।
पं० दुर्गाप्रसाद तथा वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री
(१९

४ वेदान्तसूत्रवैदिकवृत्तिः । स्वामी हरिप्रसाद वैदिकमुनि
(१९

५ हरविजयम् । राजानक रत्नाकर विरचित । राजानक अलक कृत
टीका सहित । पं० दुर्गाप्रसाद एवं काशिनाथ पाण्डुरङ्ग परब
(१९८२) १००-००

६ चम्पूरामायण । राजाभोज कृत १-५ खण्ड तक, लक्ष्मणसूरि कृत
छठवाँ खण्ड । रामचन्द्रबुधेन्द्र कृत टीका । वासुदेव लक्ष्मण शास्त्री
पणशीकर सम्पादित । (१९८२) ४०-००

७ भामिनीविलासः (काव्य) जगन्नाथ कृत । राधेश्याम मिश्र कृत
'प्रकाश' हिन्दी टीका । अन्योक्ति विलास-प्रस्ताविक विलास १५-००
संपूर्ण ६०-००

८ कामसूत्र (कामशास्त्र) । वात्स्यायन मुनि कृत । यशोधर कृत
'जयमङ्गला' संस्कृत । देवदत्त शास्त्री कृत हिन्दी टीकादि (१९८२) १५०-००

९ नारदसंहिता (ज्योतिष) । नारद महामुनि कृत । सान्वय, विमला
हिन्दी व्याख्या, व्याख्याकार-राम जन्म मिश्र (१९८२) ६०-००

१० नाट्यशास्त्रम् (नाट्य) । भरतमुनि कृत । सं० बटुकनाथ शर्मा एवं
बलदेव उपाध्याय संशोधित (१९८२) सम्पूर्ण १८०-००

११ योगसूत्रम् । (योग) पतञ्जलि कृत । भोजराज कृत 'राजमार्तण्ड'-
भावागणेश कृत 'प्रदीपिका'-नागोजि भट्ट कृत 'वृत्ति'-रामानन्द यति
कृत-'मणिप्रभा' अनन्त देव कृत 'चन्द्रिका' तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती
कृत 'योगसुधाकर' छः टीका । विस्तृत हिन्दी भूमिका डा० महाप्रभुलाल
गोस्वामी (१९८२) ५०-००

प्राप्तिस्थान—चौखम्भा संस्कृत संस्थान, पो० बा० ११३९ वाराणसी-१